प्राकृतिक
चिकित्सा
क्या व कैसे
महावीरप्रसाद पोद्दार
सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्राकृतिक चिकित्सा

क्या व कैसे

रोगों के कारण और उनके निवारण के उपाय

महावीरप्रसाद पोद्दार

१९७५

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक : मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली • दूसरी बार : १९७५ • मूल्य : दो रुपये • मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

प्रकाशकीय

'मण्डल' से स्वास्थ्य-संबंधी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इन पुस्तकों से पाठकों को बहुत लाभ पहुंचा है। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनमें से अधिकांश के कई-कई संस्करण हो चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में बताया गया है कि रोग किन कारणों से होते हैं और बिना अधिक खर्च के प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा किस प्रकार उनका निवारण किया जा सकता है।

आज हमारा खान-पान, रहन-सहन इतना कृत्रिम हो गया है कि हमें कोई-न-कोई रोग लगा ही रहता है। उसके इलाज के लिए हम डाक्टरों के पास चक्कर लगाते हैं और दवा खा-खाकर अपने शरीर को बिगाड़ डालते हैं, साथ ही अपनी जेब भी खाली कर डालते हैं।

स्वास्थ्य-संबंधी 'मंडल' की सभी पुस्तकें पाठकों के लिए बड़े काम की हैं। उन्हें पढ़कर हम जान सकते हैं कि तन्दुरुस्त रहने के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए और सावधानी रखने पर भी बीमार हो ही जायं तो बिना डाक्टरों के चंगुल में फंसे किस प्रकार नीरोग हो सकते हैं।

स्वास्थ्य का प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के साथ गहरा संबंध रखता है। अतः हमें विश्वास है कि इन पुस्तकों से पाठक अधिकाधिक फायदा उठावेंगे।

इन पुस्तकों के प्रकाशन तथा व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए कलकत्ते के श्री धर्मचन्द सरावगी ने, जो स्वयं प्राकृतिक चिकित्सा के प्रेमी हैं, पांच हजार रुपये प्रदान किये हैं। हम उनके आभारी हैं।

इस पुस्तक के लेखक स्वयं अनुभवी चिकित्सक हैं और जसीडीह में एक प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र का संचालन कर रहे हैं।

—मंत्री

भूमिका

प्राकृतिक चिकित्सा पर हिन्दी में एक पूरी पुस्तक लिखने की मेरी इच्छा बहुत दिनों से है। इसके लिए अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध सैकड़ों पुस्तकें पढ़ीं। तीन साल (१९४०-४२) जेल में तो मेरे पास प्राकृतिक चिकित्सा-संबंधी एक साधारण पुस्तकालय-जैसा ही रहा। श्री घनश्याम दासजी बिड़ला ने प्राकृतिक चिकित्सा की पुस्तकों का अपना संग्रह मुझे वहां भेज देने की कृपा की थीं। जेल में से ही मैं दो साल तक 'जीवन-साहित्य' का (जब वह प्राकृतिक चिकित्सा-प्रधान पत्र था) संपादन भी करता रहा। अपने अनेक राजनैतिक साथी कैदियों पर चिकित्सा के प्रयोग करता रहा। इसके लिए गोरखपुर-जेल के तत्कालीन सिविल सर्जन सुपरिंटेंडेंट श्री कक्कड़ ने एक दिन मजाक में कहा भी कि आप प्रतिद्वंद्वी सरकार की भांति यहां प्रतिद्वंद्वी अस्पताल करना चाहते हैं क्या ?

उस समय प्राकृतिक चिकित्सा पर एक पुस्तक लिखनी शुरू की थी। सौ-सवासौ पृष्ठ लिखे भी गये, पर वहां लिखने में कम, पढ़ने में मन अधिक लगता था। यों भी, मुझे पढ़ना अधिक और लिखना कम पसंद है। लिखने की जरूरत जान पड़ने पर भी, थोड़ा और पढ़ लूं, यह पढ़ लूं, वह भी पढ़ लूं, सोचते हुए पढ़ता ही रह जाता हूं। कुछ मित्र उलाहना भी देते हैं— अरे, हमेशा जमा ही किये जाओगे, कुछ खर्च भी करो, यानी लिखो। पर शायद, मेरी प्रकृति कंजूस है, स्वयं निकलता नहीं मुझसे। जबरदस्ती करनी पड़ती है मित्रों को निकलवाने में। 'कब्ज—कारण और निवारण' पुस्तक का यही हुआ। कुछ हिस्सा लिखकर रखा था, आये यशपालजी ('जीवन-साहित्य' के वर्तमान संपादक), उठाकर ले गये, प्रेस से कंपोज कराकर प्रूफ भेज दिये। लाचार किताब मुझे पूरी करनी पड़ी।

उसके प्रकाशन से उत्साहित होकर उन्होंने दूसरी किताब की मांग की। मैंने कहा—भाई, मुझे कभी भयंकर कब्ज था, भुक्त-भोगी था मैं उसके बुरे परिणामों का, प्राकृतिक चिकित्सा की बदौलत उससे मैंने छुट-कारा पाया था, इसलिए उस पर लिखना तो उचित ही था। अब मुझे

प्राकृतिक चिकित्सा का विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने दीजिए, तब दूसरी किताब की उम्मीद कीजिए।

जवाब मिला—अड़तीस साल से अपने पर और लोगों पर प्राकृतिक चिकित्सा के लाभ आप देख रहे हैं, बारह साल में 'आरोग्य-मंदिर' से आपके सामने हजारों रोगियों ने इस चिकित्सा से फायदा उठाया है, फिर भी अभी आप प्रत्यक्ष ज्ञान की दुहाई देते हैं !

मेरा प्रत्युत्तर था—अभी बहुत बाकी है। माफ करें, अपनी कमी को मैं आपसे ज्यादा जानता हूं।

इस तरह कहते-सुनते कई साल निकल गये। संयोगों ने कुछ साल पहले मुझे जसीडीह (संथाल परगना) ला बिठाया। यहां ६०-७० रोगियों का एक प्राकृतिक चिकित्सालय मेरे निरीक्षण में चलने लगा। इस बीच मैंने सैकड़ों को, केवल अन्य चिकित्सा-पद्धतियों से ही नहीं, बल्कि जीवन से भी निराश रोगियों को प्रकृति की कृपा से आराम होते देखा।

यह सब देख-सुनकर प्राकृतिक चिकित्सा पर एक पूरी पुस्तक लिखने की इच्छा फिर जागी। लेकिन वही पुरानी आदत 'आड़े' आई कि कुछ और पढ़ लूं। इस बार आयुर्वेद के ग्रंथ एकत्र किये। अथर्ववेद भी मंगवाया। इन सबमें प्राकृतिक चिकित्सा के अधिकतर सिद्धांत पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। पास ही मिल गई वस्तु गोपथ ब्राह्मण (१/४) में कहा है—"अथार्वाङ्नमेतास्वेवाऽप्स्वन्विच्छेति"—अब पास ही उसे ढूंढ़ो। वह पास ही है। प्राकृतिक चिकित्सा का मूल तत्त्व तो यही है कि हमें आरोग्यकारी उपादानों के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं, वे पास ही हैं। जिन पंच महाभूतों से हमारा शरीर निर्मित हुआ है, उन्हीं से उसकी चिकित्सा होनी चाहिए।

सौ-डेढ़ सौ वर्षों के अन्दर लिखे गए अंग्रेजी ग्रंथों में भी इस विषय की कम सामग्री नहीं मिलती है, लेकिन यह देखकर कितनी खुशी होती है कि पांच हजार साल पहले तक के इन ग्रंथों में वे तत्त्व किस खूबसूरती से दिये गए हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रचलित रूप के महान् आचार्य जर्मनी निवासी लूई कुने ने अपनी प्रमुख पुस्तक का नाम 'न्यू साइन्स ऑफ हीलिंग' (नवीन चिकित्सा-विज्ञान) रखा था। यदि उन्हें इस सामग्री का पता होता तो शायद वह उसे 'रिवाइज्ड साइंस ऑफ हीलिंग' (चिकित्सा-

विज्ञान का पुनरुद्धार) नाम देते।

लेकिन कूने ने अपनी किताब किताबें पढ़कर नहीं लिखी थी, सब अनुभव के आधार पर लिखा था। जान पड़ता है, कूने ने बिना अनुभव के कुछ लिखने की 'हिमाक़त' नहीं की थी। उनकी जर्मन पुस्तक के पहले संस्करण के (१८९१) अंग्रेजी अनुवाद में 'धूप-स्नान' का जिक्र नहीं है। उस वक्त तक शायद उन्होंने उसका प्रयोग न किया होगा। पर ज्योंही उन्हें इसके लाभ का ज्ञान हुआ, वह अपनी पुस्तक के आगामी संस्करण में धूप-स्नान के महत्त्व की विस्तार से चर्चा करने में न चूके। जो वस्तुएं पहले उन्हें, अथवा उनकी जानकारी में औरों को भी, अज्ञात थीं, वे सब उनके लिए, एक प्रकार से नई ही थीं। प्राकृतिक चिकित्सा की वर्तमान सरल विधियों के लिए, और लाखों पर प्रयोग करके उन्हें सिद्ध कर दिखाने के लिए, हमें उन विदेशी आचार्यों के सामने सिर झुकाना पड़ेगा। आयुर्वेद में पंचकर्म की विधियां बतलाई गई हैं, लेकिन वे दुस्साध्य हैं और यही कारण है कि आज हजारों में कोई एक वैद्य भी 'पंचकर्म' का आश्रय लेता नहीं दिखाई देता।

लगता है कि मेरी पढ़ाई का अंत आनेवाला नहीं है। तब, बड़ी पुस्तक लिखने के लिए न रुककर, छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में, जो अबतक अनुभव किया है या जो पढ़ता, अनुभव करता जाऊं, लिखता जाऊं, इस विचार का परिणाम यह पुस्तक है।

प्राकृतिक चिकित्सा सिखाने को शिक्षणालय खोलने की चर्चा जब-तब सुनाई देती है। आशा है, उन शिक्षणार्थियों के लिए भी तथा दूसरे प्राकृतिक चिकित्सा को समझना-समझाना चाहनेवालों के लिए भी, यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। भारतीय वैद्य-समुदाय को भी, इस पुस्तक द्वारा मालूम होगा कि प्राकृतिक चिकित्सा उनके लिए कोई बाहरी वस्तु नहीं है। यदि दवा के बदले वे इसे अपनायें तो अपने रोगियों का वे अधिक हित करेंगे।

कभी-कभी लोग इस पद्धति पर यह शंका करते पाये जाते हैं कि इससे नीरोग होने में बड़ा समय लगता है।

इस गलतफ़हमी का कारण यह है कि अबतक इस पद्धति का आश्रय

लेनेवालों में सौ में निन्नानवे व्यक्ति प्रायः पुराने—कभी-कभी तो दस-दस, वीस-वीस साल के—रोगी होते हैं, हर तरफ से हारे-निराश हुए। इनका सिर्फ दो-तीन महीने की प्राकृतिक चिकित्सा से अच्छे हो जाना क्या देर का काम माना जाना चाहिए? कहां दस साल यानी १२० महीने दवा करके भी सिर्फ निराशा ही नहीं, और नये-नये रोगों का पीछे लग जाना और कहां दो-तीन महीने में ही रोग का समूल नाश हो जाना, इसे देर कहेंगे या जल्दी? साधारण रोग में या रोग के आरंभ में ही प्राकृतिक उपचार अपनाने से तो दिनों में रोग का निवारण होता है, इसके सैकड़ों उदाहरण सामने हैं।

दूसरी नासमझी है कि प्राकृतिक चिकित्सा संयम बहुत मांगती है—पहले और पीछे भी। जिस चिकित्सा की बुनियाद ही यही है कि संयम के अभाव में ही रोग होते हैं उसके संयम की मांग करने में आश्चर्य क्या है? संसार में कोई भी अच्छा काम असंयमी होकर सिद्ध नहीं हो सकता तो अकेला स्वास्थ्य ही उसमें कैसे अपवाद हो सकता है? लेकिन संयम द्वारा अपना स्वास्थ्य सुधारकर बराबर अपने को स्वस्थ रखनेवालों ने कभी इसकी शिकायत नहीं की कि उन्होंने कुछ खोया है। उन्होंने अपने जीवन में निरंतर आनंदवृद्धि की ही बात कही है।

आयुर्वेदाचार्य डाक्टर भास्कर गोविंद घाणेकर एम. बी. बी. एस., बी. एस-सी. (हिंदू विश्वविद्यालय—काशी) ने मेरी 'कब्ज—कारण और निवारण' पुस्तक की भांति ही इस पुस्तक के भी संपूर्ण प्रूफ पढ़कर यत्र-तत्र संशोधन करने का कष्ट स्वीकार किया, इस कृपा के लिए मैं उनका अति कृतज्ञ हूं।

सुप्रीम कोर्ट के भू०पू० माननीय जज श्री बी. पी. सिंह महोदय के प्रति भी मैं अपनी आंतरिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूं, जिन्होंने प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषताओं पर प्रकाश डालनेवाला एक लेख इस पुस्तक के लिए लिख देने की कृपा की है।

प्राकृतिक चिकित्सा केंद्र
जसीडीह (बिहार)

—महाबीरप्रसाद पोद्दार

प्राक्कथन

कुछ का कहना है—"प्राकृतिक चिकित्सा में क्या धरा है।" दूसरे इसमें बहुत-कुछ बतलाते हैं। मैं इसी दूसरे मत का अनुयायी हूं। अपने जीर्ण रोगों के निमित्त अन्य सब प्रणालियों से हारकर—कोई लाभ न पाकर—ही मुझे प्राकृतिक चिकित्सा की शरण लेनी पड़ी। देश-विदेश में प्रचलित अनेक चिकित्सा-प्रणालियों के अध्ययन और प्रयोग के उपरांत अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ही इसके पक्ष में मेरा मत बना है।

मेरा विश्वास है कि मानव-रचित समस्त संस्थाओं की भांति, कोई भी चिकित्सा-प्रणाली पूर्ण नहीं कही जा सकती। सत्य के अनेक पहलू होते हैं, हर व्यक्ति सब पहलुओं को नहीं देखता, शायद देख सकता नहीं। भिन्न-भिन्न नामधारी चिकित्सा-प्रणालियों के आविष्कारक भी सत्य का अल्पांश ही देख पाये, संपूर्ण नहीं। अतः किसी एक चिकित्सा-प्रणाली को सर्वांगपूर्ण बताना, और अन्य प्रणालियों को अनाड़ी कहकर कोसना, सत्य का अपलाप है। हमें उदार रहकर सब पद्धतियों की विशेषता समझने का यत्न करना चाहिए। जीर्ण रोग में अति उपयोगी पद्धति के, किसी समय उग्र रोग में नाकामयाब होने पर, किसी दूसरी व्यवस्था की आवश्यकता हो सकती है। हमें किसी एक को एकमात्र या सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा-प्रणाली मानने की भूल नहीं करनी चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्त गिने-गिनाये हैं और अत्यंत सरल। हर कोई, थोड़ी समझ रखनेवाला भी, उन्हें आसानी से समझकर उपयोग में ला सकता है।

इस चिकित्सा में रोग को शत्रु नहीं माना जाता। आम तौर से तो लोग रोग के नाम से ही घबराते हैं। पर क्या यह सत्य नहीं है कि बहुत बार अशुभ के साथ शुभ रहता है? बीमारी अपने साथ पीड़ा—तकलीफ—लाती है जरूर, पर इसी के साथ वह हमारे लिए यह चेतावनी भी तो लाती है कि तुम्हारे शरीर की भीतरी व्यवस्था ठीक—प्रकृति के अनुकूल—नहीं चल रही है। वह एक सजग प्रहरी का-सा कार्य करती है। रोग प्रकृति के

साधारण नियमों के उल्लंघन की एक सूचना मात्र हैं। प्रकृति न्याय-परायण है और इस प्रकार निष्ठुर भी। उसके नियम भंग करके दंड भोगना अनिवार्य है। उसकी दी हुई हल्की चेतावनियों पर ध्यान देकर, यानी अपनी खान-पान की आदतों में सुधार करके हम उसके कठोर दण्ड-प्रहार से बच सकते हैं। प्राकृतिक दर्शन की दृष्टि से रोग शरीर में संचित दोष को दूर करके उसे पुनः स्वस्थ करने का एक प्रयत्न मात्र है। रोग का साधारण आक्रमण तो प्रकृति की अप्रकट कृपा ही मानी जानी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य कुछ शारीरिक और मानसिक विशेषताएं लिये हुए जन्मता है। उनके सदुपयोग का फल अच्छा और दुरुपयोग का फल प्रायः भयानक होता है।

अंग्रेजी में कहा गया है, 'We are what we eat'—हम भोजन से ही बने हैं। यह ध्रुव सिद्धांत है कि यदि हम उचित प्रकार का भोजन, उचित मात्रा में और उचित मेल में (किस चीज के साथ क्या चीज खानी चाहिए, इसका विवेक रखकर) खायं तो हमारा शरीर, और परिणामस्वरूप हमारा मन भी, स्वस्थ और सबल रहेगा। हमारी खुराक में से शरीर के लिए आवश्यक तत्त्वों के ग्रहण कर लिये जाने पर बाकी फुजला शरीर से नित्य ठीक समय पर खारिज न होने पर अंदर-ही-अंदर सड़ता है और हमारा शरीर एक मल-कुंड बन जाता है और इसके परिणामस्वरूप मनुष्य को अनेक रोग होते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे अधिकांश रोगों का कारण कब्ज है। उससे बचना चाहिए। कब्ज और मंदाग्नि दोनों एक ही चीज हैं—एक सिक्के की दो पीठें। कब्ज सभ्यता की देन है, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती। इस युग में हम अपनी खुराक को बहुत मांज, घिस-छील कर, उसका सार-सार खाते हैं। आटे में से चोकड़, चावल में से कण और लाल-पीली पर्त तथा तरकारियों में से छिलके निकाल फेंकते हैं, भात में से मांड़ पसा दिया जाता है, तरकारियों को उबालकर उनका पानी फेंक दिया जाता है। इस प्रकार उनके अनेक 'विटामिन' यानी सत्त्वांश नष्ट करके, उनका मौलिक स्वाद खोने के बाद, तरह-तरह के मसाले डालकर उन्हें स्वादिष्ट बनाने की कोशिश की जाती है। वैसे निस्सत्त्व भोजन का भी, हम न परिणाम का ध्यान रखते, न मेल का। हम

अपनी पाचन-शक्ति पर उसकी क्षमता से कहीं अधिक भार लाद देते हैं। हमारी बहुत-सी खुराक विना काम आये, विना पचे—विना अंग लगे—मल के रूप में शरीर से वाहर निकलती है। भोजन द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्ति का आधार उसकी मिकदार नहीं, वल्कि खुराक का अंग लगना है। पाचन-शक्ति पर वेजा वोझ पड़ जाने के कारण हमारी आंतें ठीक समय पर मल को वाहर नहीं निकाल पातीं। इस प्रकार एक दुष्चक्र की सृष्टि हो जाती है। अपच से कव्ज और कव्ज से अपच हो जाता है।

पाचन-शक्ति को स्वाभाविक अवस्था में लाने में हमें प्राकृतिक उपचारों से अनुपम सहायता मिल सकती है। उनसे लाभ उठाने के वाद हमें अपने शरीर की आवश्यकता समझकर उसे इतना ही, और इस प्रकार का भोजन देना चाहिए, जो आसानी से पचकर उसका रस वनाने के वाद वचा हुआ अंश ठीक समय पर मल के रूप में निकल जाय। हमारा स्वास्थ्य आंतों, गुरदों, फेफड़ों और त्वचा के छिद्रों द्वारा मल-निष्कासन का कार्य समुचित होने पर ही वहुत-कुछ निर्भर है। इसके लिए हमें लंवी सांस लेने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे फेफड़े मजवूत हों। गुरदों से ठीक काम कराने के लिए यथेष्ट मात्रा में स्वच्छ जल पीना चाहिए और जव-तव भाप-नहान, धूप-नहान और सदा स्वच्छ हवा का सेवन करना चाहिए। पाचन-शक्ति के सुधार और कव्ज से छुटकारा पाने के लिए हमें नियमित कुछ आसान और शारीरिक व्यायामों का सहारा लेना चाहिए।

स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य को शारीरिक और मानसिक श्रम का सामंजस्य रखना आवश्यक है। मानसिक श्रम अधिक करने वालों को शारीरिक श्रम करके उसका संतुलन करना चाहिए।

स्वास्थ्य के लिए स्थूल शारीरिक क्रियाओं का ध्यान रखने के साथ-साथ आरोग्याभिलाषी के लिए काम, क्रोधादि मानसिक विकारों के संयम का अभ्यास भी कम जरूरी नहीं है।

भोजन का प्रकार और उसकी मात्रा व्यक्ति की आदतों पर, उसके रहन-सहन के तरीकों पर, उसके श्रम के अनुपात पर और उसके ढांचे पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से हरेक को अपना पथ-प्रदर्शक स्वयं वनना चाहिए। यह कथन वहुत सत्य है कि एक आदमी ४० साल की उम्र

में अपना चिकित्सक आप बन जाता है अथवा मूर्ख बना रहता है। प्रौढ़ावस्था में पहुंचते-पहुंचते मनुष्य को यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि कैसे आहार-विहार द्वारा वह अपने को स्वस्थ्य बनाये रख सकता है।

कहते हैं, चीन में लोग स्वस्थ्य रहने के लिए यानी रोग को दूर रखने के लिए चिकित्सक रखते हैं। इसमें और रोगी होने पर चिकित्सक की शरण में जाने में बड़ा फर्क है। हमारे देश में भी ऐसी संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है जो लोगों को तंदुरुस्त रहना सिखावें—स्वस्थ्य रहने के नियम बतलावें। ऐसी संस्थाओं पर किया गया व्यय अंत में सूद, मूलसहित वसूल हो जायगा, क्योंकि इनके द्वारा औषधालयों और अस्पतालों की संख्या घटाई जा सकेगी यानी इनकी जरूरत ही बहुत कम रह जायगी। अमेरिका के कालिफोर्निया प्रांत में इस तरह की 'सन डाइट सैनिटोरियम' (Sun Diet Sanatorium) नाम की एक संस्था है, जो वहां वालों के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। उसके मार्फत लोगों में स्वस्थ्य रहने की विधियों का प्रचार किया जाता है और अस्वस्थ हो जाने पर उनकी स्वास्थ्य-प्राप्ति का उपाय।

हमें इस देश में प्राकृतिक चिकित्सा की ऐसी संस्थाओं की नींव डालनी चाहिए और उन्हें पनपाना चाहिए कि जिनका उद्देश्य बिना दवा के—मिट्टी, पानी, धूप, हवा, शारीरिक व्यायाम तथा मानसिक उपचारों द्वारा लोगों को नीरोग करना सिखाना हो।

अंत में 'Prevention is better than cure' अर्थात्– 'स्वस्थ रहना बीमार पड़कर अच्छे होने से कहीं बेहतर हैं'—सिद्धांत को सामने रखकर अपना कथन समाप्त करता हूं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रंथ चरक में भी कहा गया है—

"प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः"—बुद्धिमान व्यक्ति को पहले से ही वह कार्य करना चाहिए कि वह स्वस्थ रहे, यानी रोगी न हो।

—बी० पी० सिंह

विषय-सूची

प्राकृतिक चिकित्सा
क्या व कैसे

: १ :

रोगों के कारण

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार, बाहरी आघातादि के सिवा, मनुष्य प्रायः आहार-विहार में भूलें करने के परिणाम-स्वरूप ही बीमार पड़ता है। इन भूलों का कारण उसका अज्ञान और इंद्रियों के विषयों का लोभ होता है। समझदार समझे जानेवाले मनुष्य भी प्रायः जीभ के स्वाद में पड़कर गलत चीजें खाते और कष्ट उठाते पाए जाते हैं।

मनुष्य अज्ञानवश, भाने या न भाने का बहाना बनाकर, जो नहीं खाना चाहिए, वह खाता है, और जो खाना चाहिए, वह नहीं खाता। लेकिन भाना या न भाना खुराक के चुनाव की कोई खास कसौटी नहीं है। किसी का स्वाद बिगड़ा न होने पर ही यह कसौटी काम दे सकती है। पर बहुत लोग तो अपनी जीभ के स्वाद को इस तरह बिगाड़ लेते हैं कि उनकी जीभ गलत खाने की ही मांग करती रहती है।

खुराक-सम्बन्धी मुख्य गलतियां

(१) मनुष्य प्रायः अधिक खाता है। कारण, वह जानता नहीं है कि उसके द्वारा किए जाने वाले श्रम के अथवा उसके ढांचे आदि के हिसाब से, उसे रोज कितना और क्या-क्या खाना

चाहिए। दूसरे, बहुत लोग इस भ्रम में पड़े रहते हैं कि अधिक खाना अधिक शक्ति देता है, जबकि बात इससे उल्टी ही है। (२) खुराक को पूरा चबाता नहीं है। (३) पदार्थों के मौलिक रूप में बहुत हेर-फेर करके—बनाने के नाम पर उन्हें बिगाड़-कर—खाता है। जैसे, गेहूं अथवा उसके मोटे आटे से बनी रोटियों पर संतोष न करके, उसमें घी, चीनी वगैरह मिलाकर अथवा अनेक तरह के मसालों का संयोग करके भोजन को मीठा, खट्टा, चटपटा करके खाता है। इसी तरह, दूध के अनेक तत्त्व खोकर, उसका खोआ बनाता और फिर उसके पेड़े, बरफी आदि मिठाइयां बनाकर खाता है। स्वाद अथवा आंखों को अच्छा लगने के बहाने आटे में से चोकड़ छानकर, चावलों में से कण, भात में से मांड़ और तरकारियों को उबालकर उनका पानी फेंक देता है। फलों और तरकारियों के खाने-योग्य छिलके उतार देता है। फलों के अचार-मुरब्बे, बनाकर खाता है। (४) बिना भूख के खाता है। भूख लगे न लगे, वक्त हो जाने पर खा लेता है। भूख कम होने पर भी खाना नहीं छोड़ता। भूख बढ़ाने को चूरन, चटनी का सहारा लेता है।

खाने के बारे में मनुष्य इसी तरह की अनेक भूलें करता है। एक वाक्य में कहें तो वह जीने के लिए न खाकर मानों खाने के लिए ही जीता है।

खाने के भांति ही वह पीने में भी भूल करता है। चीजों को बहुत गरम या ठंडा करके पीता है। पानी जैसा, जितना, जब और जैसे पीना चाहिए, नहीं पीता। बहुत-सी गलत चीजें जैसे बरफ, सोडा, चाय, काफी वगैरह पीता है।

बीड़ी, सिगरेट, शराब, अफीम, गांजा, भांग, तम्बाकू वगैरह

नशों का सेवन करता है।

सोने-जागने, पेशाव, पाखाने, नहाने-धोने, भोग-विलास, कपड़े-लत्ते आदि के नियमों में प्रायः गलतियां करता है। शारीरिक श्रम नहीं करता। साफ हवा और खुले आकाश का सेवन करने का खयाल नहीं रखता। शरीर और मन को भी, आवश्यकतानुसार विश्राम नहीं देता।

हजारों साल पहले भी आहार-विहार उचित—युक्त—रखने की आवश्यकता समझी जाती थी। केवल संसार-यात्रा के सुखद रूप से निर्वाह के लिए ही नहीं, आध्यात्मिक लाभ के लिए भी उसकी आवश्यकता मानी जाती थी।

गीता में कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

—आहार-विहार, खान-पान, सोना-जागना आदि—युक्त—उचित, मर्यादापूर्ण रखा जाय और सब काम युक्त रूप से—ठीक-ठीक—किये जायं तो वह योग दुःखनाशक होता है, यानी ऐसी जिंदगी बितानेवाले को कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

उपर्युक्त श्लोक के अर्थ में शंकराचार्य जी कहते हैं—

तस्माद् योगी नात्मसम्मितादन्नादधिकं न्यूनं वाश्नीयात्।

इसलिए योगी को अपनी आवश्यकता से कम या अधिक नहीं खाना चाहिए। वेदों में भी कहा है—

यदु ह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवतितन्न हिनस्ति।
यदयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो भू न तदवति॥

—आत्मसम्मित अन्न खानेवाले की वह अन्न रक्षा करता है, उसे नुकसान नहीं पहुंचाता।

एक जगह स्पष्ट कहा गया है—अति भोजनम् रोगमूलम्। —अति (आवश्यकता से अधिक) भोजन रोग की जड़ है।

शरीर, प्रधानतः, खान-पान से ही बनता और टिका रहता है। हम जैसा खाते-पीते हैं, उसी के अनुसार हमारा शरीर बनता है। खान-पान सही रखकर शरीर को मृत्यु तक ठीक रखा जा सकता है और बीमार पड़ने पर खान-पान में परिवर्तन करके उसको सुधारा जा सकता है। बुरे या भले खान-पान का असर शरीर के सिवा, मन पर भी पड़ता है।

उपनिषद् में कहा गया है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः

—शुद्ध आहार से मन शुद्ध रहता है।

कई हजार साल पहले रचे गए आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ चरक में इस शरीर रूपी इमारत के तीन खंभे कहे गए हैं—

आहार, निद्रा और ब्रह्मचर्य—**'त्रय उपस्तम्भा इत्याहारः, स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति।'**

ब्रह्मचर्य के संबंध में गलतियां करके भी मनुष्य अनेक रोगों का शिकार होता है। सुश्रुत में कहा गया है—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति।।

—आहार के अन्तिम रूप शुक्र की (वीर्य) रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए। इसका क्षय करना बहुत रोगों का कारण होता है, यहां तक कि मौत के पास पहुंचा देता है।

वीर्य को मनुष्य की जीवनीशक्ति कहा है—**शुक्रायत्तं बलं पुंसां।**

इस शक्ति को हस्तमैथुन, अति भोग-विलास अथवा भोग

के स्मरण द्वारा नाश कर देने से मनुष्य के शरीर में रोग प्रति-षेधक शक्ति कम होकर उसे भांति-भांति की बीमारियां सताती हैं। आज नवयुवकों में क्षय (टी० बी०) की वृद्धि का एक बड़ा कारण धातुक्षय माना जाता है।

आयुर्वेद में रोगों के तीन कारण कहे गए हैं—विषयों का अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग। मर्यादा से अधिक सेवन 'अतियोग' है, बिल्कुल न सेवन 'अयोग' और गलत रूप से सेवन 'मिथ्यायोग' है। पांचों इंन्द्रियों के, रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, इन पांचों विषयों के सेवन की गलतियों के कारण ही मनुष्य रोगी होता है।

कुछ रोग संसर्गज—छूत से होने वाले—भी होते हैं। पर यह छूत भी प्राय: उन्हीं को लगती है, जिनके शरीर में उसके ग्रहण करने का माद्दा होता है। जैसे सूखी घास पाने पर ही उसे आग पकड़ सकती है, दोषरहित शरीर को छूत का डर नहीं रहता।

: २ :

रोग की उत्पत्ति

मनुष्य जो खाता-पीता है वह उसके पेट में और वहां से आंतों में जाकर पचता है[1], उसका रस बनता है। वही रस आंतों द्वारा खिचकर उससे रक्त—खून बनता है। रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा (चरवी) और मज्जा से वीर्य वनता है—

रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा, मज्ज्ञः शुक्रस्य संभवः।

इस प्रकार हमारे शरीर का अंग-प्रत्यंग भोजन से ही बना है।

आंतों के खुराक में से रस ले चुकने पर अनावश्यक भाग मल-मूत्र के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। नित्य बाहर निकलनेवाले भाग में शरीर के भीतरी स्रोतों में—नाड़ियों में मौजूद अनावश्यक पदार्थ भी कुछ मात्रा में शामिल रहते हैं। आंतें रस को चूसने के सिवा रक्त में विद्यमान गंदगी को निकालने का साधन भी हैं। जीवित प्राणी के अंदर यह क्रिया निरंतर—क्षणभर भी रुके विना—होती रहती है। इसका बंद होना ही मरना है। इस क्रिया में वाधा पड़ना ही रोग की उत्पत्ति का

---

१. इस संबंध में लेखक की 'कब्ज—कारण और निवारण' पुस्तक में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। प्रकाशक : सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; मूल्य : दो रुपया।

कारण होता है।

हमारे शरीर के भीतर छोटी-छोटी अनगिनत नाड़ियां—नालियां हैं, जिनके द्वारा रक्त सारे शरीर में चक्कर काटता हुआ शरीर का पोषण करता रहता है और उन नाड़ियों में एकत्र हुए साधारण दोषों को अपने साथ लाकर श्वास, पसीने तथा अन्य मार्गों से निकाल देता है। हमारे शरीर से दोष निकलनें के चार प्रधान साधन हैं—पाखाना, पेशाब, पसीना और सांस। इन चारों क्रियाओं के ठीक चलने तक मनुष्य प्रायः रोगी नहीं होता। पर इनमें से एक के भी अव्यवस्थित होनें पर हम बीमार हो जाते हैं।

अव्यवस्था का कारण

आहार गलत होने पर उसका रस अच्छा नहीं बनता, फिर रक्त अच्छा कैसे हो सकता है ? रक्त खराब होने पर उससे बननें वाले शरीर के दूसरे धातु भी ठीक नहीं बन सकते। रक्त में मलिनता होनें के कारण वह स्वाभाविक गति से शरीर में प्रवाहित नहीं हो पाता, इससे शरीर में शिथिलता आती है। जैसे घड़ी का कोई पुर्जा बिगड़ जानें पर पूरी घड़ी की चाल में फर्क पड़ जाता है, वैसे ही शरीर की किसी एक क्रिया के अव्यवस्थित होनें पर सारे शरीर में खराबी आना स्वाभाविक है। यों तो नाड़ियों में एकत्र साधारण दोष को नित्य बाहर निकालने का कार्य अपनें-आप होता रहता है, और किसी कारण से विशेष दोष होने पर उसे निकाल देने का प्रयत्न भी शरीर करता है। उसके भीतर यह खूबी मौजूद है। शरीर के उसी स्वाभाविक प्रयत्न का रूप होता है, बुखार, दस्त, जुकाम, फोड़े वगैरह, जिन्हें हम रोग के नाम से पहचानते हैं। संस्कृत में रोग शब्द 'रुज्'

धातु से बना है, जिसका अर्थ 'पीड़ा' है। शरीर के उस प्रयत्न में पीड़ा होने के कारण ही उसे रोग कहा जाता है। यदि दोष प्रबल न हुआ और शरीर की जीवनीशक्ति—भीतरी शक्ति (Vitality) निर्बल न हुई या किसी तेज दबाव से उसे दबाया—कमजोर न कर दिया गया, तो हमारी जीवनीशक्ति अपने-आप शरीर को नीरोग कर ले जाती है। सब का नित्य का यह अनुभव है कि शरीर में जब तब कुछ तकलीफ होने पर वह अपने-आप ही ठीक होती रहती है।

पर आहार-विहार में लगातार गलतियों के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में दोष इस परिमाण में संचित हो जाते हैं कि वे अपने-आप निकल नहीं पाते। दोषों के बढ़ने से शरीर की अनेक क्रियाएं मंद हो जाती हैं; खासकर पाचनशक्ति। खाया हुआ पचता नहीं, भूख कम हो जाती है, शौच साफ नहीं होता, कब्ज हो जाता है, नींद ठीक नहीं आती, जिससे शरीर को आराम नहीं मिलता।

जीवनीशक्ति प्रबल रहने पर शरीर में संचित दोष सरदी, गरमी की तीव्रता से या अन्य किसी आकस्मिक कारण से प्रकुपित होकर उग्र रूप में प्रकट होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के महान् आचार्य लूई कूने ने उस संचित दोष को 'विजातीय द्रव्य' (foreign matter) के नाम से अभिहित किया है और उसी को रोगोत्पत्ति का मूल कारण माना है।

चरक में रोगोत्पत्ति के संबंध में कहा है—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्।

—सभी रोगों का कारण कुपित (fermented) मल-

दोष (foreign matter) ही है। और उनके प्रकोप का कारण विविध अहित—आहार-विहार का सेवन है।

और भी कहा है—

तत्तद्वृद्धिकराहारविहारातिनिषेवणात्
दोष-धातु-मलानां हि वृद्धिरुक्ता भिषग्वरं:

—श्रेष्ठ चिकित्सक दोष बढ़ानेवाले आहार-विहार के अति निषेवण यानी उसमें ज्यादती करने से—मर्यादा छोड़ देने से ही दोष, धातु और मल की वृद्धि मानते हैं।

सुश्रुतकार कहते हैं—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।

—कुपित हुए दोष रक्त के मार्फत शरीर में चक्कर लगाते समय स्रोत-वैगुण्य यानी रसवहा और रक्तवहा नाड़ियों में रुकावट आ जाने के कारण, जहां रुक जाते हैं, वहीं व्याधि पैदा होती है। चरक में कहा है—

येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्

—आहर-विहार के कारण रोग पैदा होते हैं।

साधारण दृष्टि से देखने पर पाठकों को इस वचन में कुछ शंका हो सकती है कि जिस आहार-विहार के कारण हम जीते हैं वही हमारे दुःखों—रोगों का कारण कैसे हो सकता है?—रोगों का कारण तो इससे भिन्न होना चाहिए। हमको जिलाने वाली वस्तु ही मारने वाली भी सिद्ध हो, यह कैसा न्याय है? पर क्या यह सही नहीं है कि जो ईश्वर हमें पैदा करता है वही हमें मारता भी है? बच्चे को पुचकारने वाली माता ही शरारत—गलती करने पर उसे पीटती भी है। सदुपयोग से लाभ,

पर दुरुपयोग से बहुत बड़ी हानि करनेवाली संसार में बहुत वस्तुएं हैं। कहा है, 'अन्न तारे (जिलाए) अन्न मारे,' यदि उसका उचित रूप में—मर्यादित रूप में सेवन किया जाय, तो वह हमें स्वस्थ रखेगा, अन्यथा हानि पहुंचायेगा।

आहार की भांति ही विहार—यानी शरीर-संबंधी अन्य विषयों के बारे में भी समझना चाहिए।

: ३ :

रोगों की एकता

जब सब रोगों का कारण शरीर में संचित दोष ही है, तब उनका इलाज अलग-अलग तरीके से करने की क्या जरूरत है? रोग का कारण एक मानने पर उसका उपचार भी एक ही तरह से होना चाहिए। प्राकृतिक चिकित्सा में रोगों की एकता अतः उपचार की एकता—रोगाद्वैता चिकित्साद्वैता (Unity of disease and unity of cure) एक प्रधान सिद्धान्त है। आयुर्वेद में भी कहा है—

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि
निदानवेदनावर्णस्थानसंस्थाननामभि ।

—रोगों के अनगिनत नाम पड़ गए हैं, सिर्फ यह समझने के लिए कि पीड़ा शरीर के किस अंग में, किस तरह की है। शरीर के निदान (कारण) से—स्थान-भेद से, संस्थान-भेद से, वेदना के प्रकार से, रंग से, रोगों के नाम पड़ जाते हैं।

और कहा है—

विकारनामाकुशलो न जिह्लीयात् कदाचन
न हि सर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितः।

—सब रोगों के नाम न रख पाने में कोई संकोच की बात नहीं है; रोग का यही नाम होना चाहिए, ऐसी कोई शर्त नहीं है।

अगर किसी रोग का नाम न रखा जा सके तो चिकित्सा को यह समझकर कि—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माच्चिकित्सकः
अनुक्तमपि दोषाणां लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत् ।

दोषों के बिना कोई रोग होता ही नहीं, इसलिए दोष के चिह्न देखकर चिकित्सा करनी चाहिए ।

रोगों के विभिन्न नाम तो व्यवहार प्रयोजन के लिए हैं, चिकित्सा के लिए नहीं ।

उदर-शूल कहने से पता चलता है कि दर्द पेट में है, और कण्ठशूल से वह गले में समझा जायगा ।

लेकिन 'शूल' यानी तकलीफ (बे-आरामी—बेचैनी—Disease) तो दोनों में एक ही है । आयुर्वेद में कहा है—**रोगत्वं एक विधं रुक् सामान्यात्**—सब रोगों में वेदना (पीड़ा) एक सर्वसामान्य लक्षण होने के कारण रोग असंख्य होने पर भी रोगत्व एक है ।

वाग्भट ने भी कहा है—

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेक कारणम्—सब रोगों का एकमेव कारण दोष है ।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि शरीर के विविध अंगों में, विविध रूपों में, विविध समय में हुए शूलों के—रोगों का कारण एक ही है । दमा और एक्जिमा दोनों का कारण एक हो सकता है, यह सुनने में अनोखा-सा लगता है, पर इसके सत्य होने में कोई संदेह नहीं है । अक्सर देखा जाता है कि यदि एक व्यक्ति को दमा और बहनेवाला एक्जिमा साथ हुआ तो एक्जिमा बहते रहने पर—यानी उस स्रोत से शरीर का दोष निकलते रहने पर—दमा दबा रहता है पर एक्जिमा का बहना बंद होते ही दमा उभर आता है ।

डाक्टरों ने रोगों की अनेकता का भ्रम फैलाने में कमाल किया है। हर रोग का, यानी भिन्न-भिन्न रोग के भिन्न-भिन्न जीवाणु (Germs) कायम करके दवा से उन्हें मारने का प्रयत्न किया जाता है। भ्रम यहां तक फैला है कि पांव में हुई खाज की एक चिकित्सा होगी और हाथ में हुई खाज की दूसरी, और सिर में हुई खाज की तीसरी !

सब रोगों की एकता समझने के लिए सुश्रुत का निम्न-लिखित वाक्य बहुत उपयोगी हो सकता है।

तत्र संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता, मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरव-मालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिंगानि भवन्ति।

—शरीर में दोष-संचय होने से कोठे का भरा-सा यानी आंतों में भारीपन लगना, पीला दिखाई देना या त्वचा के वर्ण में कुछ पीलापन, शरीर में हरारत, अंगों का भारीपन, आलस्य बढ़ना और दोषों का संचय करनेवाले कारणों की ओर विद्वेष ये लक्षण होते हैं। भला किस रोग में ये सब अथवा इनमें से कुछ लक्षण नहीं मिलते ?

आयुर्वेद की भांति ही रोगों की एकता का सिद्धान्त यूरोप में भी, आज से २५०० साल पहले हिपोक्रेटने—जिसे एलोपैथी वाले औषधि का जनक मानते हैं—अपनी पुस्तकों में अनेक स्थानों पर प्रकृति अपने आप रोग दूर करती है, यह स्वीकार किया था। महात्मा गांधीजी ने भी रोगों की एकता के बारे में कहा है। "विचार करने से जान पड़ेगा कि व्याधि को रोकने का मार्ग सरल है। उसकी जानकारी के लिए किसी ज्ञान-विशेष की आवश्यकता नहीं है। अलबत्ता उस पर चलना कठिन है।

सब व्याधियों का मूल बहुत अंशों में एक है, अतः उनका इलाज भी एक ही होना चाहिए।"

रोगों की एकता का सबसे प्रबल प्रमाण तो विभिन्न समझे जानेवाले सब रोगों का एक ही तरह के उपचार से अच्छे होना है।

: ४ :

रोगों का उपचार

मर्यादित आहार-विहार

आहार-विहार के अत्यधिक—मर्यादारहित—सेवन से ही रोगों की उत्पत्ति माननें पर नीरोग रहने के लिए उनके सेवन की मात्रा का उचित होना अनिवार्य है। और बीमार पड़ जानें पर तो, उस उचित मात्रा में भी, कमी करनें की जरूरत होती है। इस विषय में प्रायः सब एकमत हैं कि रोगी होनें पर शरीर को बहुत हल्का, मर्यादित—परिवर्तित आहार-विहार चाहिए। रोग के लक्षणों और अवधि तथा रोगी की अन्य अनेक बातों के विचार से वह मात्रा क्या होनी चाहिए, इस विषय में मतभेद अवश्य है।

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृतिक चिकित्सकों नें तथा आयुर्वेद ने भी, यह माना है कि शरीर में दोष एकत्र होनें पर ही रोग होते हैं। और, शरीर जैसे अपनें भीतर से मल, मूत्र, श्वास और पसीनें द्वारा नित्य गंदगी निकालता है, वैसे ही वह अहित आहार-विहार के सेवन से भीतरी—सूक्ष्म हिस्सों में या बड़ी आंतों में जमे हुए अतिरिक्त मल—दोष को निकालनें में भी समर्थ है।

यदि शरीर को, कुछ समय के लिए, रोग की खुराक पचानें के काम से, छुट्टी दे दी जाय तो, बिना किसी ऊपरी मदद के, वह दोषों को, अपने-आप निकाल देगा। कभी-कभी शरीर स्वयं ही ज्वर वगैरह के रूप में खुराक पचानें के काम से छुट्टी लेनें

की कोशिश करता है। जब हमारी भूख अपने-आप जाती रहती है अथवा कम हो जाती है, उस समय शरीर को खुराक पचाने के काम से मुक्त करना आवश्यक है।

प्राकृतिक उपचार में रोग की दशा में आमाशय के पाचन-कार्य के भार को बहुत हल्का कर दिया जाता है, इसलिए कि वह दोष निष्कासन का काम अधिक तेजी से कर सके। इससे मनुष्य के रोग-मुक्त होने में शीघ्रता होती है।

आयुर्वेद में भी रोगी के 'पथ्य' यानी रोग के समय के आहार-विहार पर बहुत जोर दिया गया है। कहा गया है—

न चाहारसमं किञ्चिद् भैषज्यमुपलभ्यते
शक्यतेप्यन्नमात्रेण नरः कर्तुं निरामयः
भेषजोपपन्नोपि निराहारो न शक्यते
तस्माद् भिषग्भिराहारो महाभैषज्यमुच्यते
विनापि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्तते
न तु पथ्यविहीनस्य भेषजानां शतैरपि
पथ्यसेविनमारोग्यं गुणेन भजते नरम्
अपथ्यसेविनं क्षिप्रं रोगः समभिमर्दति।

अर्थात्—आहार के समान कोई दवा नहीं है। केवल आहार के नियमन द्वारा मनुष्य को नीरोग किया जा सकता है। दवा दें और आहार की परवा न करें तो कुछ न होगा, सिर्फ इसीलिए भिषकों ने आहार को महान् भैषज्य (औषध) कहा है। रोग दवा के बिना पथ्य मात्र से अच्छा हो सकता है और पथ्य ठीक न रखने पर सैकड़ों दवाएं भी कुछ नहीं कर सकतीं। पथ्य पर चलने वाले नीरोग रहते हैं और अपथ्यसेवी को रोग जल्दी पछाड़ता है।

और भी कहा है—

यद्यपथ्यं किमोषध्या: यदि पथ्यं किमौषधैः
पथ्येसति गदार्त्तस्य किमौषध निषेवणम्
पथ्ये असति गदार्त्तस्य किमौषध निषेवणम् ।

—यदि अपथ्य हो—आहार-विहार गलत हो तो दवा से क्या होना है, और पथ्य हो तो दवा की दरकार क्या है? तब रोग होगा ही क्यों?

ऊपर के श्लोकों में हल्की खुराक द्वारा पाचनशक्ति का भार हटने पर स्वयं प्रकृति द्वारा रोगमुक्त होने के सिद्धांत पर ध्यान रखकर ही 'पथ्य' पर जोर दिया गया है।

आम तौर से 'पथ्य' शब्द से मुख्यतः 'आहार' समझा जाता है, पर उपर्युक्त श्लोकों में आहार-विहार दोनों लिया गया जान पड़ता है।

: ५ :

रोगोपचार में लंघन

थोड़ी अवधिवाली और उग्र दशा प्राप्त व्याधि में तो निरापद मार्ग लंघन ही समझा गया है। विदेश के अनेक प्राकृतिक चिकित्सकों ने तो उग्र या जीर्ण, हर रोग के लिए, लंघनका सहारा लेकर लाखों कठिनतम रोगों के रोगियों को रोग-मुक्त कर दिखाया। लंघन भी थोड़े दिनों के नहीं, दो-दो महीने तक के लंघन सिर्फ जल के सहारे करा दिये। उन्होंने यह सिद्ध कर बताया कि प्राणी को आराम तो उसकी जीवन-शक्ति ही करती है, जरूरत उसे मौका देने की है।

आयुर्वेद भी इस सिद्धांत को कुछ अंशों में मानता जान पड़ता है। ज्वर में प्रायः लंघन का विधान किया गया है। रोगी की उग्र दशा में शरीर के भीतर या बाहर प्रायः ज्वर रहता है। ज्वर को रोगों का राजा और रोग शब्द का पर्याय माना गया है। व्याकरण में 'ज्वर रोगे' कहा गया है। इस दृष्टि से आयुर्वेद शास्त्रों में ज्वर में विहित लंघन को रोग की दूसरी दशाओं में भी लागू किया जा सकता है। देखना सिर्फ यह होगा कि वह कहां तक उपयोगी होता है। वैसा करने को कहीं लिखा है या नहीं, यह देखते रहने वाले आगे नहीं बढ़ सकते।

आयुर्वेद में ही कहा गया है—

> तदेव युक्तं भैषज्यं यदरोग्याय कल्पते
> स चैव भिषजां श्रेष्ठो रोगेभ्योय: प्रमोचयेत्।

—औषध (उपचार) वह ठीक है, जिससे आरोग्य प्राप्त हो और चिकित्सक श्रेष्ठ वह है जो रोगों से मुक्त करे।

सब दृष्टियों से विभिन्न रोगों—रोग-लक्षणों पर लंघन का प्रयोग करोड़ों पर लाभकारी सिद्ध हुआ है।

ज्वर में लंघन के संबंध में आत्रेय ऋषि का कहना है—

ज्वरादौ लंघनं कुर्यात्—ज्वर के आदि में लंघन करना चाहिए। 'आदि में' इसलिए कहा गया होगा कि रोग आरंभ में प्रबल—उग्र होता है। उस दशा में लंघन कराने से रोग बढ़ता नहीं।

चक्रदत्त कहते हैं—

तरुणं तु ज्वरं पूर्वं लङ्घनेन क्षयं नयेत्
आमदोषमलिङ्गं वा लङ्घयेत्तं यथाविधम् ।

—नये ज्वर को लंघन से दूर करना चाहिए। और आम दोष यानी पाचन-विकार-संबंधी अथवा जिसके कारण का पता न चले वैसे सब ज्वरों में बाकायदा लंघन ही कराना चाहिए।

चरक में कहा है—

आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामोमार्गान्पिधापयन्
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत्

—आमाशय में (छोटी और बड़ी आंतों में) स्थित दोष जठराग्नि को—पाचन-शक्ति को मंद कर देता है, इसके कारण बिना पची खुराक का अशुद्ध (खराब) रस रसवहा और रक्त-वहा नाड़ियों में पहुंचकर उनके मार्ग में रुकावट पैदा करके

ज्वर लाता है। इसलिए जठराग्नि को प्रदीप्त करने, आम[1] सहित दोषों को पचाने और स्रोतों की रुकावट को दूर करने के लिए लंघन करना जरूरी है।

दूसरों ने भी ज्वर का कारण वतलाते हुए कहा है—

मिथ्याऽहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः।

—अयोग्य आहार-विहार के कारण दोष आमाशय में आश्रय लेकर कोठे की अग्नि की उष्णता को वाहर निकालकर ज्वर पैदा करते हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा में तो सभी रोगों का यही कारण माना जाता है।

ऊपर चरक के 'आमाशयस्थो', श्लोक में आए हुए ज्वर शव्द को यदि हम 'ज्वर रोगे' के हिसाब से रोग मात्र का पर्याय मान लें तो प्राकृतिक चिकित्सा और आयुर्वेद का संपूर्ण मेल बैठता है। प्राकृतिक चिकित्सा की बुनियाद वही है। इस बुनियाद को पकड़ लेने के बाद किसी रोग को दूर करने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

चरक ने लंघन की तारीफ में और भी कहा है—

लंघनेन हि अग्नि मारुत वृद्ध्या, वातातप—
परीतमिवाल्पमुदकमल्प दोषः प्रशोषमापद्यते।

---

[1] **ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्**
दुष्टमामाशयगतं रस सामं प्रचक्षते।

जठराग्नि के कमजोर होने के कारण विना पची हुई, वायु इत्यादि दोषों के मिलने से बिगड़ी हुई, आमाशय में विद्यमान रस की पहली धातु को 'आम' कहते हैं।

—लंघन से अग्नि और वायु की वृद्धि होकर अल्पदोष इस प्रकार सूख जाते हैं जैसे हवा और धूप वाली जगह पर पड़ा हुआ थोड़ा पानी सूख जाता है।

महर्षि वाग्भट कहते हैं—

दोषेण भस्मनेवाग्नौ छन्नेऽन्नं न विपच्यते
तस्मादादोषपचनाज्ज्वरितानुपवासयेत्।

—जैसे राख से ढकी हुई आग से खाना नहीं पकता, वैसे ही आम से ढकी हुई जठराग्नि खुराक को नहीं पचा पाती। इसलिए दोषों के पकने तक यानी आम खत्म होने तक—शरीर के निराम होने तक—ज्वर वाले रोगी को उपवास कराना चाहिए।

लंघनै, क्षयिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति
स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः, पक्तिर्बलमोजश्च जायते।

उपवास से जब (कुपित) दोष दूर हो जाता है, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है, शरीर हल्का हो जाता है—यानी स्फूर्ति आ जाती है, तब आरोग्य, भूख, प्यास, भोजन में रुचि, 'आम' का पचन, बल और ओज पैदा होता है।

आयुर्वेद में उपर्युक्त दोनों श्लोक ज्वर के प्रसंग में कहे गये हैं, लेकिन इनमें उपवास द्वारा कहा गया लाभ और उसकी व्याप्ति इतनी विशद है कि वह ज्वर के सिवा रोग के दूसरे लक्षणों में भी प्रत्यक्ष लागू होता है।

जठराग्नि की मंदता और 'आम' की उपस्थिति तो, बहुत कम ही रोग ऐसे होंगे कि जिनमें न पाई जाय। उपवास को "दोषाणां समुदीर्णानां पाचनाय शमनाय च"—उभरे हुए दोषों के पाचन और शमन के लिए अत्यंत लाभकारी बतलाया गया है।

इसके सिवा उपवास, या कहिए लंघन से जठराग्नि के प्रवल होने से जीवन-शक्ति सतेज होकर—शरीर में उभार लाकर दवे हुए दोषों को बाहर निकालती है। बहुतेरे रोगियों में देखा जाता है कि लंघन शुरू करने पर पाखाने में 'आंव' आने आरंभ होते हैं और ज्यों-ज्यों 'आंव' निकलते जाते हैं, उनका रोग कम होता जाता है। 'आंव' की समाप्ति पर रोगी रोगमुक्त हो जाते हैं।

आयुर्वेद में लंबे लंघन कराने का विधान भी है—

ज्ञात्वा दोषबलं धीमान् लङ्घनानि समाचरेत्
दोषे सति न दोषाय लङ्घनानि बहून्यपि।

—बुद्धिमान को चाहिए कि शरीर में दोष की मात्रा के अनुसार लंघन कराए। दोष रहने पर अधिक लंघन करना भी दूषित न माना जायगा।

भिन्न-भिन्न प्राकृतिक चिकित्सकों के, लाखों पर किये गए, अनुभवों तथा इस पुस्तक-लेखक के अपने हजारों रोगियों के अनुभव तथा आयुर्वेद-शास्त्र से यह सिद्ध होता है कि प्रायः सभी प्रकार के रोग-लक्षणों के नाश में समझदारी से किया, कराया गया लंघन रामवाण का काम करता है।

: ६ :

लंघन का महत्व

ऊपर 'लंघन' शब्द उपवास के अर्थ में बरता गया है, लेकिन आयुर्वेद में 'लंघन' शब्द की बड़ी व्यापक परिभाषा पाई जाती है।

आयुर्वेद के सर्वमान्य ग्रन्थ सुश्रुत में लंघन की परिभाषा में कहा गया है—

शरीरलाघवकरं यद्द्रव्यं कर्म वा पुनः तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं।

—जिस कर्म—प्रकार—व द्रव्य से शरीर लघु—हल्का हो वह लंघन है।

चरक में लंघन के दस प्रकार कहे गये हैं—

चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा, मारुतातपौ,
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्।

चार तरह का संशोधन—(१) वमन (कै कराना) (२) विरेचन (ऊपर से कोई चीज पिलाकर दस्त लाना) (३) बस्ति (एनिमा) (४) स्वेदन (भाप-नहान)।

दूसरे छः प्रकार—(१) पिपासा, (२) मारुत (वायु-सेवन), (३) आतप (धूप-स्नान), (४) पाचन द्रव्य (फल-तरकारी वगैरह का सेवन), (५) उपवास (अनशन), (६) व्यायाम (कसरत)।

इन दसों में से अधिकांश उपाय प्राकृतिक चिकित्सा के उपचारों में लिये गए हैं।

: ७ :

जल का उपचार

शुरू-शुरू में विदेश में प्राकृतिक चिकित्सा 'जल-चिकित्सा' के रूप में फलने-फूलने के कारण उसका नाम हाइड्रोपैथी या हाइड्रोथेरेपी पड़ा था। फिर उसमें दूसरी प्राकृतिक वस्तुएं— मिट्टी, धूप, हवा आदि भी जुड़ती जाने से वह प्राकृतिक चिकित्सा कहलाई। विदेश में प्रिसनीज़, फादर नीप, जस्ट, लूई कूने आदि इसके अनेक महान् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने स्वयं अपनी बीमारी के लिए हर तरफ से हार चुकने पर अपनी आविष्कृत विधियों से स्वयं नीरोग होने के बाद अपनी जिंदगी में अन्य लाखों को इन तरीकों से लाभ पहुंचाया था। वहां जिन आचार्यों को जिन विधियों से, खुद को या दूसरों पर प्रयोग करके अधिक लाभ मिला था उन्होंने उन तरीकों पर ज़ोर दिया। किसी ने धूप पर, किसी ने मिट्टी पर, किसी ने जल पर, किसी ने उपवास पर। लेकिन जल की महत्ता पर प्रायः सब एकमत थे। कुछ विभिन्न विधियों से ही सही, जल का प्रयोग सब करते थे। भारत में भी यह चिकित्सा 'जल-चिकित्सा' के नाम से ही विख्यात हुई। जल हमारे शरीर के बाहरी मल—दोष को साफ करता है, वैसे ही, विधिपूर्वक प्रयोग करने से, हमारे भीतर संचित एकत्र दोष को बाहर निकालने की भी उसमें अद्भुत शक्ति है। मनुष्य-शरीर में ८० प्रतिशत तो जल ही है, अतः जल से रोगों का निवारण होना स्वाभाविक है।

बहुतों का खयाल है कि 'जल-चिकित्सा' नयी चीज है। जर्मनी

के जल-चिकित्सा के महान् आचार्य लूई कूने ने तो इसीलिए अपनी विधियों को 'नवीन चिकित्सा विज्ञान' नाम दिया था। यह सही है कि कूने की जल-चिकित्सा के अत्यन्त सरल तरीके, जिन्हें हरएक घर बैठे कर सकता है, और उनके समर्थन का प्रकार, अनोखा है। रोगों की एकता अतः उपचार की एकता का सिद्धांत भी उन्होंने जितनी स्पष्टता से दुनिया के सामने रखा, और उसे सिद्ध भी कर दिखाया, वैसा दूसरे कम कर पाए। इस दृष्टि से उसे नयी चिकित्सा कह सकते हैं। पर भारत में भी बहुत प्राचीन समय से जल का महत्त्व और चिकित्सा के रूप में उसका व्यवहार होता था, यह आयुर्वेद के नीचे दिये गए अवतरणों से सिद्ध होता है।

पित्त-ज्वर में रोगी को नाभि पर ठंडे पानी की धार गिराने का जिक्र है।—

उत्तानसुप्तस्य गभीरताम्र-
कांस्यादि-पात्रे निहिते च नाभौ
शीताम्बु-धारा बहुला पतन्ती
निहन्ति दाहं त्वरितं ज्वरञ्च।

—पित्त-ज्वर के रोगी को चित लिटाकर उसके पेड़ू पर तांबे या कांसे का एक गहरा बर्तन रखें और उसमें ऊपर से ठंडे पानी की मोटी धार गिरावें। यह क्रिया पित्त-ज्वर को तुरंत शांत करती है।

कफ दूर करने में 'जलक्रीड़ा' बतलाई गई है। जलक्रीड़ा का प्रकार न कहकर भी उससे कफ कैसे दूर होता है, यह कहा गया है।

जलक्रीड़ा-जनित शैत्येन अवरुद्धोऽष्मा
पङ्कलिप्तोऽभितः पाकाग्निरिवोग्रो भूत्वा कफं शोषयति ।

—जल-क्रीड़ा के कारण पैदा हुई ठंडक से, बाहर निकलती हुई शरीर की गरमी, अंदर इस प्रकार रुक जाती है, जैसे चूल्हे को चारों ओर कीचड़ से (गीली मिट्टी से) छोप देने से उसकी आंच बाहर नहीं निकल पाती । वह गरमी अंदर तेज होकर कफ को सोख लेती है—खींच लेती है ।

पित्त के उपशय यानी निवारण में 'यंत्रवारि'—फुहारे के स्नान का जिक्र है ।

वायु के उपशय में जलद, रविकर, बस्ति, स्वेद संमर्दनानि इन उपायों की चर्चा है । (१) जलद यानी वर्षा का पानी, (२) रविकर (सूर्य की किरणें), (३) बस्ति (एनिमा), (४) स्वेद (भाप-नहान), (५) संमर्दन (मालिश) ।

प्राकृतिक उपचार की एक क्रिया का, जिसे अंग्रेजी में 'वेट-शीट-पैक' कहते हैं, हिंदी में अनुवाद 'भीगी चादर का बंधन' किया जाता है, पर आयुर्वेद में उसके लिए गढ़ा-गढ़ाया शब्द 'आर्द्रवस्त्रावगुंठन' मिलता है । यह वेट-शीट-पैक के सिवा और क्या हो सकता है ?

कहा गया है—काञ्जिकार्द्र पटेनावगुण्ठनं दाहनाशनं अर्थात् कांजी से गीले किये हुए वस्त्र से दाहनाश होता है ।

आयुर्वेद में जल की अगाध महिमा गाई गई है—

पानीयं, श्रमनाशनं, क्लमहरं, मूर्च्छा, पिपासापहम्
तन्द्राच्छर्दि, विबन्ध, हृद्बलकरं, निद्राहरं, तर्पणम्
हृद्यं, गुप्तरसं, ह्यजीर्णशमकं, नित्यं, हितं, शीतलम्
लघ्वच्छं, रसकारणं, निगदितं पीयूषवज्जीवनम् ।

—यानी श्रम की थकान को दूर करनेवाला, खेदनाशक, वेहोशी और प्यास मिटानेवाला, आलस्य, कै, मलबंध का नाशक, असमय की निद्रा को दूर करनेवाला, तृप्तिकारक, हृदय के लिए प्रिय, (हितकर) गुप्त रस वाला, अजीर्ण शामक, सदा हितकारी, शीतल, हल्का, रस का कारण रूप और अमृत की भांति जीवनदाता है।

चरक में विष-चिकित्सा-प्रकरण में **अवगाहन रक्त मोक्षणाः** कहा गया है। इसमें रोगी को जल के अंदर विठाने की बात है। ऐंद्रजालिक कामरत्न में तो साफ कहा है—**अत्यन्त विषरोगार्तान् जल मध्ये विनिक्षेपेत्**—अत्यन्त विषपीड़ित को पानी में डाल दो। (नदी में इस तरह डालना चाहिए कि नाक-मुंह पानी के ऊपर रहें।)

जल का महत्त्व चिकित्सा के रूप में आयुर्वेद से भी अति प्राचीन अर्थात् संसार में पाए जानेवाले सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ वेदों में भी पाया जाता है। जल के सिवा, सूर्य-स्नान, वायु-स्नान, मिट्टी का लाभ भी वेदों में—विशेषतः अथर्व वेद में—वतलाया गया है।

वेद में जल की महिमा

अमूर्या उपसूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह
ता नो हिन्वन्त्यध्वरम्।

—सूर्य किरणों से शुद्ध हुआ जल हमारा कल्याण करे।

सूर्य किरणों से संपर्कित बहता जल पीने, नहाने, धोने और जल-चिकित्सा के लिए भी, अधिक लाभदायक समझा जाता है।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः, उशतीरिव मातरः।

—जो रसों में सबसे अधिक कल्याणकारक रस है, उस जल से हमें उसी तरह उत्तम सुख मिले, जिस तरह पुत्र को माता के दूध से पुष्टि मिलती है।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम् ।

—जल में अमृत है, जल में औषध है अर्थात् आरोग्यदायक गुण है।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा सोमने ।

—सृष्टि रचियता परमात्मा ने हमसे कहा है कि जल में सब औषधियां हैं।

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ।

—जल से हमारी चिकित्सा हो और रोगों से शरीर का बचाव होकर दीर्घायु बनें।

आप इद्वा भेषजीरापो अमीवचातनीः
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ।

—जल निस्संदेह औषध है, जल रोगनाशक है, जल सब रोगों की दवा है। वह जल मुझे क्षेत्रिय (आनुवंशिक—पैतृक) रोगों से मुक्त करे।

क्षेत्रिय शब्द से प्रतीत होता है कि जल में वंश-परंपरा से चले आते रोग तक को दूर करने का सामर्थ्य माना गया है। तब साधारण रोग की तो बात ही क्या रही !

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयोऽध्वरीयताम् ।

—जल का सही उपयोग जाननेवाले का वह (जल) माता और बहन की भांति भला करता है।

माता और बहन से अधिक मनुष्य का भला करनेवाला और कौन मिलेगा ?

'अम्वय' शव्द बहते जल का बोधक है।

अरिप्रा श्रापो अप रिप्रमस्मत्

प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु।

—निर्दोष जल हमारे रोग—दोष को दूर करे। निर्मल—चमकता हुआ जल हमारे शरीर के बाहरी हिस्से पर लगे दोष—मल को दूर करके, दुष्ट स्वप्न—स्वप्न-दोष को हटा दे, भीतरी मल को—दोषों को निकाल दे।

प्रायः प्राकृतिक चिकित्सकों का अनुभव है कि स्वप्न-दोष तथा धातु दौर्बल्यादि विकार जल-चिकित्सा से जल्द अच्छे होते हैं।

भारत में जल की महिमा

भारत में जल की महिमा प्राचीन काल से अवगत होने से ही स्नान-क्रिया धर्म के अंदर दाखिल कर दी गई थी। मनुष्य का वह नित्य का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया। भारत में सुबह ब्रह्ममुहूर्त में नदी के ठंडे पानी में, खुली हवा में स्नान करने का रिवाज है। गांवों में, और गंगा-किनारे के शहरों में भी, लाखों नर-नारी, जाड़ा हो या गरमी, सुवह-ही-सुवह नदी में गोते लगाते हैं, मल-मलकर नहाते हैं। स्वास्थ्य अथवा किसी दूसरे प्रकार के फायदे के खयाल से यह न करके, नित्य-क्रिया के हिसाब से ही किये जाने पर भी, उन्हें इसका पूरा लाभ तो मिलता ही है। प्रातःकाल की ठंडी हवा, सूर्य किरणों से संपर्कित, बहता शीतल जल, कोस-आध-कोस पैदल चलकर जाना-आना, वहां बैठकर घंटे-आध-घंटे पूजा करना, इसमें उन्हें धूप-स्नान का लाभ भी मिल जाता है। धार्मिक वृत्ति के वृद्ध

लोग तीर्थों में माघ मास के स्नान के लिए पागल रहते हैं। प्रयाग का कल्पवास—माघ में एक महीना नित्य त्रिवेणी का स्नान—एक महीने की प्राकृतिक चिकित्सा ही है—बिना विधि की ही सही। बहुतेरे अस्वस्थ व्यक्तियों—खासकर स्त्रियों को देखा जाता है कि महीने दो महीनें के नदी-स्नान के फलस्वरूप उनकी बीमारी जाती रहती है।

भारत के कई प्रांतों में, रोग की कुछ अवस्थाओं में, जल के प्रयोग सुने जाते हैं। उस दिन एक मित्र नें मुझे बतलाया कि उन्होंने राजस्थान में छोटे बच्चों को रोग विशेष में 'तरड़ा' देते देखा है। उसका प्रकार है—बच्चे को उल्टा लिटाकर ऊपर से मोटी धार से ठंडा पानी उसके गुदाद्वार के नजदीक कुछ मिनटों तक गिराना। उसमें 'तरड़ तरड़' शब्द होने के कारण उसका नाम 'तरड़ा' पड़ा जान पड़ता है। कटकर खून निकलने पर ठंडे पानी में भीगो कर कपड़ा लपेटने का तो आम रिवाज है। तलाश करने से हिंदुस्तान में ऐसे अनेक प्रकारों का पता चल सकता है।

जल के प्रयोग से दो-चार तरह के रोग आराम होने की बात तो लोगों की समझ में आती है, लेकिन सिर्फ पानी से सब तरह के रोग कैसे दूर हो सकते हैं, यह समझ में नहीं आता। इसीलिए पीछे रोगों की एकता का सिद्धांत बता आए हैं। जब रोग एक है तो चिकित्सा में अनेकता की आवश्यकता क्या है?

जल-चिकित्सा के महत्त्व के संबंध में यहां विदेश के अनेक गण्यमान्य डाक्टरों और अन्य महानुभावों के मत उद्धृत किये जा सकते थे, लेकिन हिंदुस्तानियों के उनसे अपरिचित होने के कारण उनका उल्लेख व्यर्थ समझा गया। यहां जल-चिकित्सा

पर संसार-विख्यात महात्मा गांधी का मत देना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वह कहते हैं—

"बहुत अधिक लोगों पर प्रयोग करके लूई कूने ने निश्चय किया कि सब तरह के रोगों में पानी के दो-तीन (कटिस्नान, मेहन-स्नान, वाष्प-स्नान[1]) प्रकार के स्नानों से लाभ पहुंचता है। उसकी पुस्तकों के अनुवाद अनेक भाषाओं में[2] हो चुके हैं। हिंदुस्तान की कई भाषाओं में भी हुए हैं। वह सारी बीमारियों की जड़ मेदे की खराबी को मानता है। मेदे की खराबी से ही शरीर के बाहरी हिस्सों में फोड़े-फुंसी, सूजन तथा अन्य रोग पैदा होते हैं या भीतर की गरमी बाहर आकर सारे शरीर को गरम कर देती है। जल-चिकित्सा पर डा० लूई कूने के पहले के एक लेखक की लिखी 'जल-चिकित्सा' नाम की एक बहुत पुरानी पुस्तक है।[3] पर लूई कूने के पहले किसी नें रोगों की एकता पर इतना जोर नहीं दिया था और न यही बतलाया था कि सारी बीमारियों की जड़ मेदा है। इस बात की जरूरत नहीं कि हम लूई कूने के मत को सर्वांश में सही मान लें, पर इतना निश्चित है कि उसके विचार और उपचार अनेकानेक रोगों में ठीक उतरते हैं और सहस्रों उसे आजमा चुके हैं। डर्बन के स्व०

---

१. इन तीनों स्थानों की विस्तृत विधि इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट रूप में दी गई है।

२. संसार की अधिकांश भाषाओं में इसकी एक करोड़ कापियां बिकने की बात कही जाती है।

३. लिचफील्ड के सर जान फ्लेयर (१६४९-१७३४) की 'The history of cold bathing, both ancient & modern' पुस्तक की ओर इशारा जान पड़ती है।

मजिस्ट्रेट मि० ट्रीननधनुर्वात रोग से अपाहिज हो गए थे। वह बहुत डाक्टरों का इलाज करा कर निराश हो चुके थे। किसी की सलाह पाकर वह लूई कूनें के पास गए। लूई कूने के इलाज का उन पर बहुत अच्छा असर हुआ। वह चंगे हो गए। उसके बाद बहुत वर्ष डर्बन में रहे। लोगों को वह लूई कूने के उपचारों की सलाह दिया करते थे। यह तो जल-चिकित्सा लोकप्रियता का एक उदाहरण है, पर ऐसे बहुत ज्यादा उदाहरण पाए जाते हैं।"

"हमारा यह शरीर पंच भूत—क्षिति, (पृथ्वी-मिट्टी), जल, पावक (अग्नि-सूर्य), गगन (आकाश), समीर (हवा) से, बना है, इसलिए उसकी चिकित्सा भी इन्हीं पांचों की सहायता से होनी चाहिए।"

: ८ :

मिट्टी का उपयोग

प्राकृतिक उपचारों में मिट्टी का विशेष उपयोग किया जाता है। आयुर्वेद और वेद में से हम मिट्टी की महिमा प्रकट करनेवाले कुछ वचन पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दे रहे हैं।

आयुर्वेद में मिट्टी

कर्दमो दाह-पित्तार्त्ति-शोथघ्नः शीतलः सरः।

—पानी में सानी हुई मिट्टी (कर्दम) ठंड देनेवाली होती है, शौच साफ लाती है, जलन, पित्त की पीड़ा और सूजन को दूर करती है।

कृष्णमृत् क्षतदाहास्त्र प्रदरश्लेष्मपित्तनुत्।

—काली मिट्टी घाव, दाह, रक्तविकार, प्रदर (स्त्री-रोग) कफ तथा पित्त को मिटाती है।

हिता वा स्यात् कृष्णा वल्मीकमृत्तिका। (सुश्रुत)

सर्प-विष के प्रतिकार में काली और विमौट की मिट्टी को हितकर बताया है।

वेद में मिट्टी

यद्वो देवा उपजीका आसिञ्चन धन्वन्युदेकम्

तेन देवसुतेनेदं दूषयता विषम्।

—हे मनुष्यो ? मुंह से लाई हुई मिट्टी और उसमें अपने मुंह के मिलाए जल से दीमकें जो विमौट (वल्मीक) बनाती हैं, उस (मिट्टी) देव-रचित (प्राकृतिक) भेषज से इस विष

को—रोगरूपी विष को—नष्ट करो।

उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधि भेषजम् तदास्रावस्य।

दीमकें समुद्र या जलाशय से—उसके किनारे से गीली मिट्टी के रूप में औषध को ऊपर उभारती हैं। वह बहनेवाले घाव की औषध है।

मिट्टी के परम भक्त गांधी जी कहते हैं—

"जीवन की सादगी बढ़ने के साथ-साथ रोगों के लिए दवा लेनें की जबरदस्त अरुचि, जो मुझमें पहले से थी, वह बढ़ती गई, किंतु भोजन के परिवर्तनों के कारण कब्ज की शिकायत दूर न हुई। कूनें के कटि-स्नान के उपचार से थोड़ा फायदा होने पर भी जितना चाहिए उतना परिवर्तन नहीं हुआ। एक मित्र नें जुस्ट की 'रिटर्न टु नेचर' (कुदरत की ओर लौटो) नामक पुस्तक मुझे दी। उसमें मैंनें मिट्टी के इलाज के बारे में पढ़ा। उक्त पुस्तक के लेखक ने इस बात का जोरों से समर्थन किया है कि मेवे और ताजे फल ही मनुष्य की कुदरती खुराक हैं। मैंने इस समय केवल फलाहार का सहारा तो नहीं लिया, पर मिट्टी का उपचार फौरन शुरू कर दिया। उसका मुझ पर अद्भुत असर हुआ। (उपचार यह था—साफ खेत की लाल या काली मिट्टी लेकर उसमें अंदाज से ठंडा पानी मिलाकर उसे सानकर और फिर साफ पतले भीगे कपड़े पर रखकर पेट पर लगा कर ऊपर से पट्टी बांध लेता। यह पुलटिस रात को सोते समय बांधता और सवेरे या रात को जब नींद खुल जाती तो हटा देता। इससे मेरा कब्ज जाता रहा) इसके बाद मैंने मिट्टी के ये उपचार अपनें पर और अपनें अनेक साथियों पर आजमाये और जैसा मुझे याद है, शायद ही किसी पर निष्फल हुए हों।

"मिट्टी और पानी के उपचारों के विषय में मेरी श्रद्धा बहुत अंशों में जैसे आरंभ में थी वैसी ही है। आज भी मर्यादा के अंदर रहकर मिट्टी के उपचार अपने ऊपर तो मैं करता ही हूं और अपने साथियों को भी मौका पड़ने पर सलाह देता हूं। जीवन में दो सख्त बीमारियां मैं भोग चुका हूं, तथापि मैं मानता हूं कि मनुष्यों के लिए दवा लेने की शायद ही जरूरत होती है। पथ्य और पानी, मिट्टी आदि घरेलू उपचारों से हजार में से ९९९ केस अच्छे हो सकते हैं।

"बिच्छू और बर्रे के डंकों पर मैंने मिट्टी के इलाज को स्वयं आजमा कर देखा है, उसे तत्काल लाभदायक और उपयोगी पाया है। नीचे लिखे उदाहरणों में मैंने मिट्टी की पुलटिस के (जिस तरह ऊपर बताई गई है) उपचार का स्वयं अनुभव किया है—

१. अतिसार (पतले दस्त)
२. सिर दर्द
३. आंखों का दर्द
४. चोट लगने से कहीं सूजन आ गई हो तो
५. कब्ज
६. पेट का दर्द
७. पेचिश।
८. १९०४ के पहले फ्रूट-साल्ट लेने पर ही मेरा पेट साफ रहता था। १९०४ में मिट्टी की उपयोगिता समझ में आ जाने से फिर कभी मुझे फ्रूट-साल्ट आदि लेने की जरूरत न पड़ी।
९. पेट और सर पर मिट्टी बांधने से तेज बुखार घंटे दो घंटे में हल्का हो जाता है।

१०(फोड़े-फुंसी, खुजली और दाद वगैरह पर मिट्टी बांधने से प्रायः बहुत लाभ होता है। बहते फोड़े पर कम फायदा होता है।)

११. जले पर मिट्टी वांधने से जलन कम हो जाती है और सूजन नहीं आती है।

१२. बवासीर पर बांधने के लिए मिट्टी लाभदायक है।

१३. पाला पड़ने के समय जिसके हाथ पैर सुर्ख हो जाते हैं और सूख जाते हैं, उस पर मिट्टी जरूर फायदा पहुंचाती है।

१४. उस सूजन में, जिसमें खुजली होती है, पर दर्द नहीं होता, मिट्टी गुणकारी है।

१५. जोड़ों के दर्द पर मिट्टी लगाने से फौरन लाभ होता है। मिट्टी के अनेकानेक प्रयोग करने के बाद मुझे मालूम हुआ है कि घरेलू इलाज के लिए मिट्टी अनमोल वस्तु है।[1]

" इस तरह से पानी, मिट्टी आदि से मियादी बुखार-जैसे भयंकर ज्वरवाले रोगियों को भी आराम हुआ है। इतना ही नहीं, किंतु बाद को उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहा। कुनैन आदि दवा खानेवाले मनुष्य नीरोग हुए से जान पड़ने पर भी दूसरी बीमारियों के पंजे में फंसे रहते हैं। मलेरिया के रोगी कुनैन से आराम होते बताए जाते हैं, पर मेरा खयाल है कि उन्हें मलेरिया से शायद ही छुटकारा मिलता हो। पर प्राकृतिक उपचारों से मलेरिया के रोगी को पूर्ण नीरोग होते मैंने पाया है।

प्लेग के रोगियों के लिए खोले गये एक शिविर में, जिसमें हम लोग भी शुश्रूषक का कार्य करते थे, हमें बीमारों को समय-

१. गांधीजी-लिखित 'आरोग्य साधन', पृष्ठ ७७-७८।

समय से ब्रांडी देने को कहा गया था। स्वयं हमें भी छूत से बचने के लिए नर्स थोड़ी ब्रांड़ी लेने की सिफारिश करती थी और खुद भी लेती थी। हममें कोई भी न था, जो ब्रांडी लेता। मुझे तो रोगियों को भी ब्रांडी देने में श्रद्धा न थी। डा० गाडफ्रे की इजाजत से तीन बीमारों के, जो ब्रांडी बिना काम चलाने को और मिट्टी के प्रयोग करने देने को तैयार थे, सिर और छाती पर जहां दर्द था, मैंने मिट्टी रखने का प्रयोग किया। इन तीनों बीमारों में दो बचे, बाकी अन्य सब बीमारों का देहांत हो गया।

"कुछ ही दिनों बाद हमें मालूम हुआ कि उक्त नर्स का भी प्लेग से देहांत हो गया। उक्त दो बीमारों के बचने और हम लोगों के मुक्त रहने का क्या कारण था, यह कोई नहीं कह सकता; पर मिट्टी के उपचार पर मेरी श्रद्धा और, दवा की भांति भी शराब के उपयोग के विषय में मेरी अश्रद्धा में, वृद्धि हुई। मैं जानता हूं कि इस श्रद्धा और अश्रद्धा दोनों के लिए कोई आधार नहीं है, तथापि मुझ पर उस समय जो असर पड़ा, श्रौर जो आज तक चला आ रहा है, उसे मिटाया नहीं जा सकता।

"मेरे जो बच्चे जहाज में हिंदुस्तान आए—उनमें तीसरा लड़का रामदास भी था। स्टीमर में खेलते हुए उसका हाथ टूट गया। डाक्टर ने हड्डी बिठाकर लकड़ी की तख्तियां बांध दीं और हाथ को रूमाल से गले से लटका दिया। स्टीमर के डाक्टर की सिफारिश थी कि जखम का किसी डाक्टर से इलाज कराना चाहिए। पर मेरा यह जमाना तो जोर-शोर से मिट्टी के प्रयोग का था। मेरे जिन मुवक्किलों को मुझ में विश्वास था, उन पर

मैं मिट्टी और पानी का प्रयोग करता था। फिर रामदास के लिए दूसरा क्या होता ?

"कांपते-कांपते मैंने उसकी पट्टी खोली, जख्म साफ किया और हाथ में मिट्टी की पुलटिस लगाकर जैसे पहले बांधा था वैसे वांध दिया। इस प्रकार वरावर मैं स्वयं जखम साफ करता और मिट्टी बांधता। किसी दिन कोई गड़बड़ न हुई और दिन-दिन जखम भरते हुए लगभग महीनें भर में बिल्कुल भर गया। स्टीमर के डाक्टर की राय के मुताविक डाक्टरी मरहम से भी इतना समय लगने की बात थी।

"इन घरेलू उपचारों के विषय में मेरा विश्वास और उन पर अमल करनें की मेरी हिम्मत बढ़ी। इसके बाद मैंने अपने प्रयोगों का क्षेत्र खूब वढ़ाया। जख्म, ज्वर, अजीर्ण, कामरू इत्यादि रोगों के लिए मिट्टी के, पानी के और उपवास के प्रयोग छोटे-वड़े, स्त्री-पुरुषों पर मैंने किए और अधिकांश सफल हुए।

"एक वक़्त था कि जब मैं सुबह चाय पीता, दो-तीन घंटे बाद नाश्ता करता, एक बजे भोजन करता, फिर ३ बजे चाय पीता और छः-सात बजे पूरा भोजन करता। उस दिनों मेरी दशा अत्यंत दयनीय थी। जब-तब बदन में सूजन आ जाती। दवा की शीशी हर दम पास रहती। डटकर खा सकने के लिए जुलाब लेता और ताकत के लिए तरह-तरह के टानिक (पुष्टि-कर दवाइयां)। मेरा खयाल है, आज, तब से मेरी उम्र बहुत ज्यादा होते हुए भी, उस समय की अपेक्षा मुझ में काम करनें की ताकत तिगुनी अधिक है।"

: ६ :

धूप-स्नान

लूई कूनें नें अपनें साधनों में सूर्य-किरणों के सेवन की बड़ी तारीफ की है। अब तो केवल सूर्य-किरणों से अधिकांश रोग दूर करने के लिए हीलियोथेरैपी नाम की एक चिकित्सा-पद्धति ही चल गई है। डा० रोलियर नें इस पर एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी और स्वीट्जरलैंड में प्रधानतः सूर्य-किरणों से इलाज करनेंवाला एक चिकित्सालय खोलकर हजारों को उससे लाभ पहुंचाया।

भारतीय साहित्य में भी सूर्य की इतनी महिमा गाई गई है कि उसे लोग 'सूर्यनारायण' और 'सूर्यभगवान' के नाम से पुकारनें लगे। लेकिन आज सूर्य की किरणों में मौजूद अद्भुत रोगनाशक शक्ति को भूलकर लोग दवा की शीशियों पर विश्वास करनें लगे हैं। बहुत लोग सूर्य के नाम पर रविवार का व्रत करते हैं। एक देहाती कहावत है—"एक अत्तवार के (रविवार) भुख ले (उपवास से) जनमक (जन्म का) कोढ़ नाहीं (नहीं) जात (जाता)।" इस कहावत से पता चलता है कि कभी कोढ़-जैसे भयंकर रोग के लिए उपवास और सूर्य की उपासना प्रचलित थी।

वेद में भी सूर्य की बड़ी महिमा गाई है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।

—सूर्य उदय होनें के बाद, अस्त होनें तक, अपनी किरणों से रोगोत्पादक क्रिमियों का नाश करता रहता है।

जो चीज कम-से-कम ५००० साल पहले वेदों में कही गई थी। वही वर्तमान समय में विज्ञान ने बड़ी शोध-खोज के बाद प्रकट की है कि टी० बी० के कीड़े (जर्म्स) उबलते पानी में न मरने पर भी सूर्यकिरणों से बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं—फिर दूसरे कीड़ों का नाश होने में तो संदेह ही क्या है।

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा
दृष्टांश्चाघ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन्।

—अंधकारनाशक, विश्वप्रकाशक सूर्य सब दृष्ट और अदृष्ट क्रिमियों को नष्ट करता हुआ पूर्व दिशा से उदय होता है।

अनुसूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।

—तेरे सब हृदय रोग तथा पांडुरोग (कामला, हलीमक) उदयकालिक नारंगी रंग वाले सूर्य के द्वारा शरीर से बाहर निकल जायं।

(उदय काल का सूर्य (उगने के घंटे भर बाद और दो घंटे तक) नारंगी रंग वाला होता है। वही किरणें हमारे नग्न शरीर पर, और जाड़ा हो तो एक पतला कपड़ा पहनकर पड़नी चाहिए।)

प्रश्नोपनिषद् में कहा है—

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।

—उदय काल का सूर्य सारे जगत् का प्राण है।

ऋग्वेद में तो सूर्य को स्थावर जंगम का आत्मा बतलाया है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

प्राणेन विश्वतो वीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।

—देवता सब प्रकार के वीर्यों से (गुणों से) युक्त सूर्य को

अपने प्राणों से संबंधित करते हैं—यानी भिन्न-भिन्न प्रकार से सूर्य-प्रकाश का सेवन करते हैं।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परिदध्मसि

(लाल रंग की गायों का दूध पीने से और सूर्य की किरणों के लाल रंग से व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट होता है, दीर्घ आयु मिलती है, सुंदरता और बल मिलता है।)

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोङ्गभेदमशीशमः।

—तेरे सिर के रोगों को और हृदयवेधी शूल को और अंग वेदना को यह उदय होता हुआ सूर्य शमन करे।

स नो मृडाति तन्वे ऋजुगो रुजन्।

—वह सीधा जानेवाला (सूर्य) हमारे शरीर को आरोग्य देता है, दोषों को दूर करता है।

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास
एनं परुष्परुराविवेश यो अस्य।

—हे सूर्य ! सिरदर्द से, खांसी से तथा इस मनुष्य के पोर-पोर में (जोड़-जोड़ में) जो रोग घुस गया है उससे, इसे मुक्त कर।

यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो,
वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च।

—इनके सिवा दूसरे जो वात, पित्त, कफ रोग हैं, उन्हें भी वनस्पति और पर्वत के संसर्ग से यानी वन-पर्वत की खुली हवा में रहकर सेई हुई किरणों से हटा।

निरर्रिण सविता साविषत्पदो निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा।

सविता (सूर्य) वरुण (जल) मित्र (प्राणवायु) अर्यमा

(आक का पौधा) हाथ और पावों के दर्द को दूर करें।

इसमें सूर्य, हवा, पानी और आक के पौधे का दर्द दूर करने में उपयोग कहा गया है।

आज भी आक के पत्ते दर्द पर बांधे जाते हैं।

सूर्य की किरणों से स्त्रियां लाभ उठाती थीं, यह स्त्रियों के लिए सूर्यरश्मीन् अनुसञ्चरन्ति। मरीचीः अनुसञ्चरन्ति, कह कर प्रकट किया गया है।

: १० :

वायु और प्रकाश का उपयोग

मरुतो मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानवः। (ऋ० ८।२०-२३)—प्राकृतिक पदार्थों में वायु प्राणिमात्र के लिए औषध-रूप है।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयो भु नो हृदे
प्राण आयूंषि तारिषत्। (ऋ० १०।१८६।१)

—वायु हृदय-संबंधी रोगों में हितकर है, आयु को बढ़ाता है।

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहस

—वायु और सूर्य के जानने योग्य गुणों का हम मनन करते हैं। वे दोनों सम्पूर्ण जगत् के तारक हैं। वे दोनों हमें पाप से (रोगों से) बचाएं।

मन्वे वां मित्रा वरुणावृतावृधौ सचेतसौ।

—हे मित्र (वायू) और वरुण (जल), मैं आप दोनों का मनन करता हूं, आप दोनों सत्य को बढ़ाने और स्फूर्ति देने-वाले हैं।

ठंडे पानी से नहाकर ठंडी हवा में घूमने जाने में या कोई किसी प्रकार का व्यायाम करने में कितनी स्फूर्ति आती है!

जीवितयोपनान् एनान् कण्वान् गिरि आवेशय।

—जीवन का नाश करनेवाले ये रोग-बीज जिनके अंदर

प्रवेश कर गये हों अर्थात् जिन्हें ये रोग हो गये हों, उन्हें पहाड़ पर ले जाओ।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो आजीगसम्।

—अंधकारपूर्ण स्थानों में रक्त, मांस को खानेवाले रोग-बीज रहते हैं। मतलब हुआ, नीरोग रहने के लिए प्रकाशयुक्त हवादार स्थानों में रहना चाहिए।

: ११ :

रोगों में दवा की अनुपयोगिता

अब तक के वर्णन पढ़कर पाठक समझ गये होंगे कि रोग दूर होने के लिए मनुष्यों को दवा की नहीं, बल्कि जरूरत है हवा की, प्रकाश की, जल की, मिट्टी की आवश्यक आराम की, व्यायाम की, आहार-विहार में मिताचारिता की—संयम की। और उससे भी अधिक आशापूर्ण मनःस्थिति की।

इसके समर्थन में वेद और आयुर्वेद के अनेक प्रमाण दिये जा चुके हैं। अब आगे के प्रकरण में हम देश और विदेश के अनेक महापुरुषों तथा दिग्गज डाक्टरों के वचनों द्वारा यह दिखाने की कोशिश करेंगे कि रोगों में दवा फायदा नहीं, बल्कि नुकसान करती है।

डाक्टर या उनकी दवाएं रोग मिटा सकती हैं, यह वहम दूर करने को नीचे कुछ आंकड़े दिये जा रहे हैं। ये सन् १९२३ की ब्रिटेन के रजिस्ट्रार जनरल की ७६वीं वार्षिक रिपोर्ट से लिये गए हैं, जिसमें, उस साल वहां किस रोग से, किस पेशे वाले कितने मरे, यह हिसाब भी दिखाया गया है। इसमें १०-१२ रोग और १४-१५ पेशे लिये गए हैं। अनेक दृष्टियों से यह तुलना ज्ञानवर्द्धक है। इससे पता चलता है कि कौन-सा पेशा स्वास्थ्य के लिए हितकारी है, कौन-सा हानिकारक। यह देखने और जनता को समझाने का काम डाक्टरों का होता है, पर

रिपोर्ट से मालूम होता है कि डाक्टरों का अपना स्वास्थ्य ही तो दूसरों के मुकाबले में अधिक खराब रहता है।

भिन्न-भिन्न रोगों से मरने वाले खेतिहर-मजदूर और डाक्टरों के तुलनात्मक अंक—

रोगों के नाम	खेती के मजदूर	डाक्टर	प्रतिशत अधिक
न्यूमोनिया	४०	६७	७०
रक्तवहा-संस्थान संबंधी (सर्क्युलरी सिस्टम)	५१	९३	८५
कैंसर	५४	७०	३०
मस्तिष्क संस्था (नर्वस सिस्टम)	४५	८०	८५
यकृत्	५	२९	४८०
मधुमेह	४	१३	२२५
वृक्कशोथ	१३	३९	२००
अन्यान्य मूत्र-विकार	१०	१६	६०
पाचन-संबंधी रोग	१९	५०	१६०

इन अंकों से पता चलता है कि कम-से-कम इन रोगों की दवा डाक्टरों के पास नहीं है, अन्यथा ये अपने को पहले रोग-मुक्त करते।

इन अंकों से दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि गांवों में सादे खान-पान पर रहने वाले किसान, डाक्टरों की अपेक्षा इन भयंकर रोगों से कम संख्या में पीड़ित होते हैं—यानी स्वस्थ रहने के लिए जीवन में सादगी जरूरी है, न कि दवा।

हिंदुस्तान के कुछ धनिक यह समझते हैं कि जो बीमारी हिंदुस्तान के डाक्टरों से अच्छी नहीं हो पाती, वह विलायत के

डाक्टरों से अच्छी हो सकती है, ये अंक उनका भी भ्रम दूर करेंगे। जब ये डाक्टर अपनी ही बीमारी दूर नहीं कर सकते तो दूर वालों की कैसे दूर करेंगे ? अंग्रेजी में कहावत है :

'ओ फिजीशियन हील दाईसेल्फ'—वैद्यजी, खुद की फिक्र कीजिए।

: १२ :

दवा पर प्रश्निचिन्ह

हिंदुस्तान में एलोपैथ—डाक्टर प्रायः अपनी पद्धति को सर्वश्रेष्ठ और वैज्ञानिक बताकर अन्य चिकित्सा-पद्धतियों को कोसते रहते हैं। कुछ लोग उनके वाग्जाल में फंसकर एलोपैथी को वैज्ञानिक मानने की भूल करते हैं। आशा है कि आगे के वक्तव्यों से इस संबंध में उन्हें एक नई दृष्टि मिलेगी।

यूरोप और अमेरिका में औषधवाद के सैंकड़ों महान् आचार्यों ने डाक्टरी और औषधवाद की जो बुराइयां प्रकट की हैं उनमें कुछ के मत यहां दिये जा रहे हैं। वे अपने समय के दिग्गज विद्वान् थे, उन्होंने हजारों को डाक्टरी पढ़ाई थी, बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे थे, जिनमें से कई आज भी मेडिकल कालेजों में पढ़ाए जाते होंगे—कम-से-कम पुस्तकालयों की शोभा तो जरूर बढ़ाते होंगे। वे व्यवसाय में खूब धन भी कमाते थे। लेकिन दीर्घकाल के अनुभव से, यह ज्ञान होने पर कि एलोपैथी की निदान-पद्धति, औषधियां और चीरफाड़, रोगी के लिए अत्यंत हानिकर हैं, अपने सहवर्गियों द्वारा अपमानित होने की जोखिम लेकर भी, उन्होंने इनके दोष दिखलाने में आनाकानी नहीं की। ये सत्य के उपासक धन और यश को लात मारकर भी तथ्य प्रकट करने से न चूके। सत्य का अन्वेषक, **दोषा वाच्या गुरोरपि, शत्रोरपि गुणा वाच्या**—गुरु के दोष और शत्रु के भी गुण कहने से मुंह नहीं मोड़ता। ये सत्य के प्रकाश को ढका हुआ न देख सकते थे।

अंग्रेज चिकित्सक डा० फर्थ—मैं कभी समझ न पाया कि डाक्टरों में तथा उनके चिकित्सा-विज्ञान में लोग कैसे विश्वास करते हैं ?

गौर से देखने पर यह समझने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए कि यह संपूर्ण चिकित्सा-विज्ञान—औषधोपचार-कला स्पष्ट, किंतु कलापूर्ण ठगी के सिवा और कुछ नहीं है। इसे चलाते रहने वाले डाक्टर ठग हैं अथवा अपने-आपको धोखा देनेवाले मूर्ख।

खाने-पीने या लगाने की हर प्रकार की दवाइयां दुखियों के दुख को केवल बढ़ाती हैं।

प्रो० डा० बार्कर—दवा के रूप में दी गई शराब के कारण मैंने बहुतेरी महिलाओं को शराबी बन जाते देखा है।

दूसरों की हजामत बनाकर सीखनेवाले अनाड़ी नाई की भांति डाक्टर भी लोगों पर व्यर्थ प्रयोग करते रहते हैं। चिकित्सा-शास्त्र के ग्रंथकारों ने भी स्वतंत्र रूप से खोज करने के बजाय अपने पूर्ववर्तियों की भूलों की नकल भर की है।

डा० इवांस (लंदन)—आज की औषधोपचार-पद्धति (डाक्टरी) बिल्कुल अनिश्चित तथा असंतोषजनक है। इसकी जड़ में इसे विश्वसनीय बना सकने वाला कोई तत्त्व-दर्शन नहीं है, न व्यवहार-बुद्धि के साथ इसका कोई नाम-रिश्ता है।

डा० ग्रेगरी (एडिनबरा)—औषधसंबंधी निन्नानवे प्रतिशत बातें असत्य हैं और औषध-विज्ञान के अधिकांश सिद्धांत अनर्गल प्रलाप मात्र हैं।

डा० रैमजे (लंदन)—वर्तमान चिकित्सा-पद्धति अस्पष्ट, खोखली और असंगत कल्पनाओं का संग्रहमात्र है। हमारी कोई

दवा कभी किसी को लाभ नहीं पहुंचाती। यही नहीं, उल्टे वह रोगी की हालत को बदतर बनाती है। यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि अधिकांश मौकों पर रोगी डाक्टर की सहायता से बचा रहकर अधिक निरापद रह सकता है। अपने व्यवसाय-बंधुओं के (डाक्टरों के) देखे हुए हथकंडे मुझे ये कठोर शब्द कहने को मजबूर करते हैं।

प्रो० रश (फिलेडेल्फिया)—शवच्छेदों से (dissections) हमें रोज मालूम होता है कि हम निदान-विज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। उसके आधार पर नुस्खे लिखते हुए हमें शर्म आनी चाहिए। हमने भ्रांत तथ्यों और गलत सिद्धांतों के मोह में पड़कर न जाने कितनी बुराइयां की हैं। हमने सिर्फ रोगों की संख्या ही नहीं बढ़ाई, उन्हें अधिकाधिक भयंकर बना दिया है।

डबलिन मैडिकल जर्नल—आज चिकित्सा - विज्ञान कहलाने वाली इस बिल्कुल अनिश्चित और सर्वथा असंतोष-जनक पद्धति के साथ 'विज्ञान' शब्द का संयोग करना एक भयंकर भूल कहलायेगी। यह बेमल तर्कों और जल्दबाज़ी में गलत तरीकों से निकाले हुए नतीजों, तोड़े-मरोड़े हुए तथ्यों, असंतुलित तुलनाओं, अर्थरहित अनुमानों और केवल निरुपयोगी ही नहीं, बल्कि खतरनाक सिद्धांतों का गोरख-धंधा मात्र है।

डा० फ्रैंक—हर साल हजारों रोगी, इस खतरनाक औषधोपचार का पेशा करनेवालों या कहिए 'अधिकार प्राप्त हत्यारों' द्वारा मौत के मुंह में पहुंचा दिये जाते हैं।

फ्रांस के सुप्रसिद्ध शरीरशास्त्री और **विकृतिविज्ञानवेत्ता डा० मेजेंदी**—हमारे पास शायद ही शरीर-विज्ञान संबंधी कोई ठोस सिद्धांत हो। ऐसी दशा में उपचार में हमारा सर्वथा

विफल होना असंभव नहीं है।

हमारा रोग-संबंधी अज्ञान इतना अधिक है कि रोग का वह उपचार करने की अपेक्षा कि जिसके प्रयोग का प्रयोजन और हेतु दोनों हम नहीं समझते, और जो प्रायः रोगी को मौत के समीप पहुंचा देता है, यह कहीं अच्छा होगा कि हम कुछ भी न करके रोग को प्रकृति के भरोसे छोड़ दें।

सुप्रसिद्ध शरीरशास्त्री डा० हाल—मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि बच्चों की अधिकतर मृत्युएं शक्ति क्षीण करने-वाली दवाओं के गलत और अनुचित प्रयोग के कारण हुआ करती हैं।

डा० बास्टक—रोगी को हमारे द्वारा दी जानेवाली दवा की हर खुराक उसकी भीतरी शक्ति (जो स्वयं शरीर को नीरोग करने में समर्थ होती है) के साथ खिलवाड़ करने की कोशिश है।

डा० हनिमैन—(एलोपैथी—ए वर्ड ऑव वार्निंग टू पेशेंट्स) देश के हजारों नौनिहाल अपनी भरी जवानी में क्षय और प्लूरसी आदि रोगों से मरते हैं। यदि डाक्टरों में सत्यता का लेश भी हो तो उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी मृत्यु के कारण वे ही हैं। इनमें से एक भी केस ऐसा नहीं होता, जिसमें डाक्टर की सुंदर उपचार-कला, मूर्खतापूर्ण रक्तक्षरण और फुफ्फुसावरण प्रदाह में प्रयुक्त ऐंटीफ्लोजस्टीन ने भविष्य में क्षय का रूप लेनेवाली हालत की नींव न डाली हो।

वर्तमान एलोपैथी के जन्मदाता हिपोक्रेट—प्रकृति रोग मिटाती है, डाक्टर नहीं।

डा० काउल्स—प्रायः डाक्टर रोगों की बात जानते हैं, स्वास्थ्य की नहीं।

सर फ़्रेडरिक टीब्ज, एम० डी०, एफ़० आर० सी० एस०, के सी० बी० ओ०, सी० बी०, सप्तम एडवर्ड के और लंदन के अस्पताल के कन्सल्टिंग सर्जन और सर्जरी के प्रोफेसर—मैं एक ऐसे युग की बाट देख रहा हूं कि जब लोग बीमार पड़नेपर दवा लेने की वेढंगी आदत छोड़ देंगे।

एस्टली कूपर—एलोपैथी अटकलपच्चू शास्त्र है।

सर जान फारब्ज—सयाने-सयाने डाक्टरों के होते हुए भी वहुतेरे मनुष्यों का रोग प्रकृति ने ही दूर किया है।

डाक्टर बेकर—ज्वर से मरनेवालों की अपेक्षा ज्वर को दवा से मरनेवालों की तादाद कहीं ज्यादा होगी।

डाक्टर रामसे वाटसन—हम लोगों का व्यवसाय बहुत प्रश्नों के संवंध में शक-सुवहों से भरा हुआ है।

डाक्टर फाजवेले—डाक्टरी दुनिया से उठ जाय तो मनुष्य-जाति का अकथनीय लाभ होगा।

डाक्टर मेसनगुड—लड़ाई, महामारी और अकाल से मरने-वालों की अपेक्षा कहीं अधिक दवाइयों की भेंट चढ़ते हैं।

स्वर्गीय सिविल सर्जन लक्ष्मीनारायण चौधरी (जबलपुर)—"प्रकृति द्वारा मिट्टी से पैदा की जानेवाली दवाओं का (खाद्य पदार्थों का) मुकाबला संसार की बड़ी-से-बड़ी प्रयोगशालाओं में तैयार की जानेवाली दवाएं नहीं कर सकतीं। प्रकृति की इन दवाओं में उचित परिमाण में शरीर को चंगा रखने-वाले सब तत्त्व मौजूद हैं। ये सैकड़ों पेटेंट तथा दूसरी दवाएं, जिनके वारे में वहुत जोरों से कहा जाता है कि उनके बनाने में क्लोराइड कैल्सियम—एक तरह का चूना और लोहा ठीक-ठीक मिकदारों में मिलाए गए हैं, विल्कुल वेकार ही नहीं, बहुत

हानिकर हैं। डाक्टरों के इन बड़े-बड़े ऐलानों और दवाओं के बड़े-बड़े नामों पर ध्यान देना गलत है। ये डाक्टर एक तरह के सौदागर हैं, जो पैसों के लिए, न कि रोगी के फायदे के लिए, सौदागरी करते हैं।

इसी तरह की सौदागरी की मामूली मिसाल मैदा और सफेद चीनी की तिजारत है। ये दोनों गैर कुदरती चीजें हैं और इनसे तंदुरुस्ती को बहुत धक्का पहुंचता है। शरीर की बाढ़ और उसको चंगा रखने के लिए जिन विटामिनों और खनिज लवणों की जरूरत है वे सब, देखने में आंखों को अच्छा लगने के तथा बिक्री बढ़ाने के खयाल से, आटे और गुड़ से निकाल दिये जाते हैं। लोग यह नहीं समझते कि लवणों और विटामिनों के निकल जाने से इन दोनों चीजों ने करोड़ों को भारी नुकसान पहुंचाया है।

अपनी शुरू जिन्दगी में मैंने दवाओं से बहुत फायदा समझा था पर लंबे तजरबे के बाद मैं इसी नतीजे पर पहुंचा हूं कि "दवाओं से बड़ा नुकसान पहुंचता है। दवाओं से रोग दब जाता है, अच्छा नहीं होता। डाक्टर का असली काम लोगों को बीमार पड़ने से बचाना होना चाहिए, न कि उसे अच्छा करने के लिए दवा का इस्तेमाल कराने का। दवाओं से बीमारी कभी अच्छी नहीं होती।"

दवा और डाक्टरों के बारे में चिकित्सकों के अतिरिक्त संसार के कुछ अन्य महापुरुषों के मत पढ़िए।

डाक्टर वैद्य न होते हुए भी गांधीजी ने स्वास्थ्य के संबंध में खूब विचार किया था, पढ़ा था, और अपने पर ही नहीं, अन्य सैकड़ों पर भी प्रयोग करने के बाद उन्होंने अनेक लेख और दो

बहुमूल्य पुस्तकें स्वास्थ्य के संबंध में लिखी थीं। उनकी सबसे बड़ी बात यह थी कि अन्तिम समय तक उन्होंने अपना स्वास्थ्य ठीक रखा था।

महात्मा गांधी—"डाक्टर, वैद्य, हकीम—ये कमाई के लिए चिकित्सा-कार्य चलाते हैं। दूसरों के भले की खातिर ये नहीं सोचते। यह दूसरी बात है कि इनमें कोई-कोई परोपकारी भी होते हैं। सिर्फ कुदरती इलाज का ही जन्म परोपकार में से हुआ है।

"रोग का उपचार करना तो ठीक है, लेकिन उसके लिए दवा लेना व्यर्थ है, उल्टे उससे बहुत बार हानि होती है।"

भूदान-आंदोलन के प्राण, महान् विचारक **संत विनोबा**—

"अभी दुनिया के विद्वान् डाक्टरों नें इकट्ठे होकर और चर्चा करके जाहिर किया था कि इधर तो हम नई-नई दवाइयां तैयार कर रहे हैं और उधर नये-नये रोग पैदा हो रहे हैं।

"डाक्टर पैसा लेकर सेवा करते हैं। कोई छोटा रोग हो तो उसको बड़ा रूप देते हैं और साल-साल भर औषध खिलाते रहते हैं। बड़े लोग बेचारे डरपोक होते हैं, जरा छाती में दर्द हुआ, तो डाक्टर उनसे कहते हैं कि क्षय रोग हुआ है। फिर उनको औषध खिलाकर काफी पैसे कमाते हैं। यहां मैं डाक्टरों की निंदा नहीं कर रहा हूं। यह बात डाक्टरों ने ही खुद पत्र लिखकर कही है। उन्होंने लिखा है कि हम ऐसे हथकंडे करते हैं कि जिसमें पैसा मिलता है। आज जो पैसे की रचना हुई है, उसमें डाक्टर और रोगी, दोनों के हित अलग-अलग माने जाते हैं। जब लोग बीमार नहीं पड़ते हैं, तब डाक्टरों का धंधा अच्छा नहीं चलता, इसलिए उन्हें दुःख होता है। जब लोग खूब

बीमार पड़ते हैं, तो डाक्टरों को खुशी होती है।

"रोग-निवारण की दृष्टि से पहला नंबर हम उस चीज को देंगे, जिसे चिकित्सा-शास्त्र में 'पंचकर्म' कहा है और आधुनिक भाषा में जिसे 'प्राकृतिक चिकित्सा' कहते हैं।

"देहातियों को स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगी को दवाइयां देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पावें।"

लार्ड फ्रैंसिस जेफरी (१७७३-१८५०)—दवा एक ऐसी कला—या कहिए विज्ञान—है, जो रोगी को उसकी बीमारी में, कुदरत के उसे अच्छा करने या खत्म करने तक, भुलावे में रखकर तसल्ली दिलाती रहती है।

बीमारी और दवा किसी गांव के दो गुंडों की तरह हैं, जो एक-दूसरे को मारते-काटते रहते हैं, लेकिन अपने सामान्य शत्रु प्रकृति के मुकाबले के लिए दोनों एक हो जाते हैं!

नेपोलियन बोनापार्ट (डाक्टर को संबोधित करके)—डाक्टर! जीवन के सिद्धांतों पर आक्रमण मत करो—उन्हें अपने आप अपनी रक्षा करने दो, तुम्हारी दवाओं की अपेक्षा स्वयं वे अपना काम कहीं अच्छा करेंगे।

इंगलैंड के नामी पादरी सी० काल्टन (१७८०-१८३२)—दवा लेने का अर्थ है कि एक और नई बीमारी पल्ले बांधना या पुरानी को दबाना।

फ्रैंकलिन—आराम भगवान् करता है, डाक्टर अपनी जेब भरता है।

पोप—व्यायाम, मिताचारिता, शुद्ध वायु, आवश्यक आराम, ये बड़े-बड़े डाक्टर हैं।

थोरो—मनुष्य की विश्वास करने की प्रवृत्ति के साथ अधिक विश्वासघात करनेवाली वस्तु दवा के सिवा दूसरी नहीं है।

हैजलिट—दवा की टोटकेबाजियों के विश्वासियों का हम मूर्ख कहकर मजाक उड़ाते हैं और वक्त पर हम स्वयं उनमें फंस जाते हैं कि शायद इनसे कुछ फायदा हो ही जाय !

: १३ :

क्या दवा बिल्कुल बेकार है ?

इतने महानुभावों के मत पढ़ने के बाद भी कुछ लोग कह सकते हैं—

"दुनिया में लाखों ही दवा से अच्छे होते देखे जाते हैं, उस दशा में दवा को व्यर्थ कैसे माना जा सकता है ?"

बदले में इन दोस्तों से पूछा जा सकता है कि अगर दवा से आराम होना माना जाय तो दवा बदलनी क्यों पड़ती है ? एक ही डाक्टर पांच-पांच, सात-सात बार दवा बदलता है और कई-कई डाक्टर बदले जाते हैं, इस दशा में किस दवा को रोग मिटाने का श्रेय दिया जायगा ?

वही दवा, उसी प्रकार के अन्य रोगियों को देने पर यदि वे अच्छे नहीं होते तो अनिवार्यतः यह माना जायगा कि वह दवा काम नहीं करती। एक ही तरह की दवा कितनी ही बार कितने ही रोगियों पर व्यर्थ होती है। इससे जान पड़ता है कि किसी रोग पर किसी दवा का परिणाम निश्चित नहीं है, अंधेरे में ढेला फेंकने-जैसा काम है, सौ-पचास फेंकने पर एक ढेला निशाने पर लग सकता है।

विदेश, और इस देश में, लाखों आदमी डाक्टर-वैद्यों से थक-थकाकर प्राकृतिक चिकित्सा की शरण में आए और अच्छे हुए। ये दवा से अच्छे क्यों नहीं हुए ? अन्य लाखों की गवाहियां

मिल जायंगी, जो दवा से अच्छे न होने पर दवा छोड़ बैठे और फिर अपने आप चंगे हुए। और करोड़ों की कहानियां मिलेंगी, जो दवा खाते-खाते काल के गाल में चले गए।

किसी ने कहा है—जड़्यां बूट्यां जन बचे तो बैद क्यूं मर जाय? अगर दवा से लोग, अच्छे हो सकते हैं तो डाक्टर-वैद्य क्यों मरते हैं?

कोई डाक्टर कह सकता है कि डाक्टर, वैद्य बीमारी अच्छी कर सकते हैं, मौत को नहीं रोक सकते।

मनुष्य की मौत किसी-न-किसी बीमारी में ही तो होती है? बिना किसी रोग के बैठे-बिठाए मरनेवाले तो हजारों में पांच भी नहीं होते। रोगी रहकर मरनेवाले सब दवा की व्यर्थता सिद्ध करके ही तो मरते हैं।

यों लाखों ही क्यों, करोड़ों दवा से आराम होते दिखाई देते हैं—दवा फिर वह एलोपैथी हो, आयुर्वेदिक हो, होमियोपैथी हो, हकीमी हो अथवा गांव में इधर-उधर पाई जानेवाली जड़ी-बूटी या घास-पात हो। भारत की ८० प्रतिशत जनता, जो देहात में बसनेवाली है, दवा के नाम पर वही घास-पात इस्तेमाल करके अच्छी होती है। यदि दवा से रोग दूर होना स्वीकार किया जाय, तो मानना पड़ेगा कि हर तरह की दवा से ही रोग जाता है। और दवा ही से क्यों, लाखों झाड़-फूंक, गंडा-तावीज, डोरायंत्र, मंत्र, पूजापाठ, जप आदि अनेक औषध-रहित साधनों से आराम होते पाए जाते हैं। बहुत पहले तो रोग-निवृत्ति के यही साधन अधिक चलते थे—गांवों में आज भी चलते हैं। लेकिन, यहां हमें सिर्फ औषधवाद पर विचार करना है।

बिना दवा के आराम होनेवालों पर भी विचार करें तो उनकी गिनती ही नहीं की जा सकती। सब मनुष्य, सब समय, सब रोगों में कहां कोई दवा लेते हैं ? मनुष्य के सिवा संसार के अन्य असंख्य प्राणी भी रुग्ण होने पर क्या दवा लेते हैं ? अच्छे तो अपने-आप होते ही हैं। अन्यथा दुनिया से उनकी नस्लें कब की खत्म हो गई होतीं। सर्दी, जुकाम के लिए कितने आदमी दवा लेते हैं ? डाक्टर लोग जुकाम को एक बड़ा रोग मानते हैं। अनेक बीमारियां बिगड़े हुए जुकाम के परिणामस्वरूप मानी जाने लगी हैं। देहात में साधारण ज्वर में दवा लेने का रिवाज नहीं है। मामूली दस्त और आंवों में भी कोई दवा नहीं दी जाती। दो-चार दिन तो लोग यों ही देखते हैं कि रोग अपने-आप ठीक हो जायगा। इस प्रकार करोड़ों स्वत: अच्छे होते हैं। जरा अस्वस्थ होते ही तुरत कोई-न-कोई दवा लेने की भावना तो नये जमाने की देन है।

कुछ लोग तो अच्छे रहने के लिए भी दवा खाने लगे हैं। रोग से मुक्त होने के लिए ही नहीं, मुक्त रहने के लिए भी इंजेक्शन दिए जाते हैं। अनेक रोगों की रोकथाम के लिए टीके दिये जाते हैं। स्वस्थ रहने के लिए स्वास्थ्य के नियम पालने चाहिए या दवा खानी चाहिए ? डाक्टरों की बाढ़ के साथ यह भावना बढ़ी है या बढ़ाई गई है; क्योंकि डाक्टरों को आमदनी के नये-नये जरिए चाहिए। यहां तक कि शहर की नकल में देहातों में कहीं-कहीं अस्पताल बनाने की मांग की जा रही है। विनोबाजी कहते हैं—"यदि गांवों में अस्पताल हुए तो यह देहातियों का दुर्भाग्य ही होगा।"

: १४ :

आराम प्रकृति करती है

सच तो यह है कि दवा के प्रभाव से अच्छे होते माने जाने वाले भी, दवा से नहीं, बल्कि प्रकृति के प्रभाव से ही अच्छे होते हैं। दवा का केवल नाम होता है। यदि हमारे शरीर में अपने-आप आराम करने की शक्ति मौजूद न होती यानी प्रकृति आराम न करती होती, तब—और तभी सब औषधवादियों की, और उनकी औषधों की, सही परीक्षा हो सकती। "बैद करे बैदाई, चंगा करे खुदाई"—आराम तो प्रकृति करती है और उसका यश लेने को डाक्टर-वैद्य दौड़ते हैं। किसी नम्र चिकित्सक का कथन है—मैं उपचार करता हूं, अच्छा भगवान (भगवान की बनाई हुई प्रकृति) करता है।

सब प्राणियों के शरीर में रोगों को अपने-आप अच्छा करने की शक्ति रहती है। उसे प्रकृति अथवा जीवनी-शक्ति कह सकते हैं।

इन दिनों कई जगह सरकार की तरफ से आयुर्वेद और होमियोपैथी आदि पद्धतियों की दवाओं की तुलनात्मक जांच के लिए अस्पताल खोले गए हैं, जहां कुछ खास रोगों पर दवाओं की जांच की जाती है। घर बैठे ही इतना तो कहा जा सकता है कि हर पद्धति में सौ में पचहत्तर आराम होंगे ही। कोई दवा न दीजिए तब भी होंगे, दीजिए तब भी होंगे। अधिकांश को कुदरत आराम करती ही है। सरकार को इन सबके साथ ही एक प्राकृतिक चिकित्सालय भी खुलवाना चाहिए,

जहां किसी औषध पद्धति से, फिर चाहे वह एलोपैथी हो, होमियोपैथी होया आयुर्वेदीय हो, आराम न होने वालों का इलाज किया जाय। एलोपैथी को स्वयं सिद्ध मानकर दूसरी पद्धतियों की परीक्षा, जांच का सही तरीका नहीं कहा जा सकता है।

प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत है कि मनुष्य की अंतर्शक्ति —जीवनीशक्ति उसे नीरोग करने के लिए शरीर में किसी प्रकार से किसी रूप में एकत्र हुए दोष को बाहर निकालने की कोशिश करती है। उस कोशिश में—कूड़ा बाहर निकालने में —कष्ट होना स्वाभाविक है। कष्टदायक भाव का नाम ही रोग है। शरीर की सफाई के लिए प्रकृति की ओर से मिलने वाले कष्ट से—रोग से हमें घवड़ाना नहीं चाहिए। उससे तो हम आगे होनेवाले बड़े कष्ट से बचते हैं। घर में सफाई करने आने-वाले मेहतर का तो हमें स्वागत ही करना चाहिए।

इस प्रकार एकत्र मलिनता को यानी शरीर के दोष को दूर करने की प्रकृति द्वारा होने वाली कोशिश का नाम ही तो रोग है। यदि हम इस अवसर का सही तरह से उपयोग करना जान जायं तो तंदुरुस्ती हमारी मुट्ठी में रहेगी। जैसे ज्वर में, यदि हम उसे दबाने या जल्दी उतारने की कोशिश न करके ज्वर के आने के कारणों को समझकर उन्हें शीघ्रता से दूर कर दें, तो ज्वर स्वयं चला जायगा। यही नहीं, हमें पहले की अपेक्षा अधिक स्वस्थ कर जायगा। यही बात जुकाम, खांसी और आंव आदि अन्य उग्र रोगों में होती है।

सही उपचार का परिणाम यह होना चाहिए कि हम रोग से पहले की अपेक्षा, अधिक स्वस्थता का अनुभव करें। तभी

यह सिद्ध होगा कि रोग दोष-मुक्ति के लिए था। औषधवादी तो इतने से ही संतोष कर लेता है कि उसने तात्कालिक पीड़ा को नष्ट कर दिया। गांधीजी के कथनानुसार—'इसी को वह अपनी बड़ी विजय मानता है।' लोग भी एक बार रोग के लक्षण मिट जाने मात्र से काम पूरा हुआ मान लेते हैं। ज्वर १०४° से ९७॥° पर आ जाने से ही सफलता समझ ली जाती है। इतने से काम के लिए जमीन-आसमान एक किया जाता है। पर थर्मामीटर में या हाथ से गरमी न लगने पर क्या यह मानना उचित होगा कि रोगी दोष-मुक्त हो गया? दवा के प्रभाव से शरीर गरम न लगने पर भी ज्वर के साथ रहनेवाली सिर की पीड़ा, शरीर का टूटना, कब्ज, भूख की कमी, नींद का अभाव आदि लक्षण तो रहते ही हैं—गरमी जाने के साथ वे लक्षण नहीं जाते। बिना दवा के ज्वर जाने पर ये लक्षण भी साथ ही जाते हैं। ज्वर गया माना तभी जाता है कि जब सब लक्षण ठीक हो जायं। केवल थर्मामीटर में गरमी न आने मात्र से ज्वर-रोग दूर हुआ नहीं समझा जा सकता। ज्वर की भांति ही अतिसार, आंव वगैरह का हाल होता है। दवा से आंव, दस्त बंद हो जाते हैं, लेकिन पेट फूल जाता है, शरीर में शोथ आ जाता है—जिसे आमवात कहते हैं। शरीर में दर्द रहने लगता है। दस्त जारी रहने के समय होनेवाली तकलीफ से यदि दस्त बंद करने पर कष्ट और बढ़ गया तो दस्त रोकने मात्र से क्या फायदा?

ऐसी भूलें करनेवाले ही यह कहते पाये जाते हैं कि **मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।**

अथवा एक उर्दू कवि के इस कथन को दोहराते हैं—

इक न इक आरज़ा रहा हमको,
थमे दस्त तो बुखार आया।

कवि ने यह मजाक में कहा होगा पर वास्तविकता यह है कि शरीर से दस्तों के रूप में निकलते विकार को दवा देकर रोक दिये जाने पर कुदरत को उसे शरीर से निकालने को बुखार लाना स्वाभाविक है।

आयुर्वेद में कहा है—

या ह्यु्दीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च
सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत्

—उपचार वह चाहिए, जो उठे हुए रोग को मिटावे और नया न उठावे, न कि वह कि जो एक व्याधि को हरे और दूसरी पैदा कर दे। प्राकृतिक उपचार में रोग आसानी से दूर होने के साथ ही दवा के कारण प्रायः नये पैदा होनेवाले रोगों का डर बिल्कुल नहीं रहता।

: १५ :

प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषता

डाक्टर की जरूरत तो किसी के बीमार पड़ने पर होती है और बीमार के अच्छा हो जाने पर फिर न उसे रोगी से कोई ताल्लुक रहता है, न रोगी को उससे। पर प्राकृतिक उपचारक का काम लोगों को ऐसी जीवन-पद्धति—आहार-विहार रखना सिखाना है कि वे बीमार न पड़ें क्योंकि बीमार न पड़ना बहुत आसान है। कहा है—प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् —कीचड़ में पड़कर उसे धोने की परेशानी की अपेक्षा अच्छा है कि हम उससे दूर ही रहें। चरक में कहा है—

प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद्यदात्मनः

अर्थात्—बुद्धिमान को रोगी होने से पहले ही इस तरह रहना चाहिए कि रोग न हो।

अंग्रेजी में कहावत है—बीमारी न होने देना इलाज की अपेक्षा बेहतर है। बीमार को कितना शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी पैसे की बरबादी होती है और कितना दूसरों को उसके लिए परेशान होना पड़ता है ?

बीमार को ऐसा उपचार बतलाना जिसे वह आसानी से समझ सके और बिना किसी बाहरी मदद के स्वयं कर सके।

आगे तन्दुरुस्त रहने के लिए प्राकृतिक चिकित्सक को कोई नया नुस्खा लिखने की जरूरत नहीं है। तन्दुरुस्त रहने—बीमार न पड़ने का जो तरीका है वही तरीका दुबारा बीमार न पड़ने के लिए भी बताया जाना चाहिए।

नीरोग होने के संक्षिप्त उपाय

१. रोग को दुश्मन न मानें। वह हमारे आहार-विहार की भूलों के कारण शरीर में एकत्र हुए दोष को निकालने का—हमें पहले से अच्छी हालत में करने का प्रकृति का प्रयत्न है।

२. हमेशा मन को खुश रखें। आशावादी रहें।

३. जब कभी शरीर भारी जान पड़े, आराम करें। शारीरिक और मानसिक, दोनों तरह के काम का भार घटा दें।

४. खाना छोड़ दें या बहुत हल्का कर दें।

५. पेशाब पाखाने की हाजत कभी न रोकें, पेट साफ न होता हो तो पेड़ू पर मिट्टी की पट्टी रखें या एनिमा[1] लेकर पेट साफ कर लें। तीन चार दिन खाना बंद कर देने और उस समय रोज एनिमा लेकर पेट साफ कर लेने से उन अनेक साधारण रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है, जो आगे चलकर असाधारण बन जाते हैं।

६. पानी नित्य अढ़ाई-तीन सेर पीना ही चाहिए। न पीते हों तो बीमारी के दिनों में तो इतनी मात्रा जरूर कर लें।

७. नींद कम-से-कम सात घंटे लेनी चाहिए। शरीर में कोई खराबी हो तब तो जरूर इतनी देर सोना चाहिए।

८. नित्य ही, खासकर बीमारी में शरीर के अंग-प्रत्यंग को रगड़कर नहाना आवश्यक है। इससे शरीर में स्फूर्ति रहती है।

---

१. एनिमा लेने की विधि परिशिष्ट में दी गई है।

९. सांस लेने के लिए हमेशा स्वच्छ हवा काफी मात्रा में मिलनी चाहिए। सबेरे दूर तक तेजी से टहलने जाने से फेफड़ों को साफ हवा मिल सकती है।

१०. मानसिक चिंता बढ़ानेवाले कामों से बचना चाहिए, खासकर बीमारी की दशा में।

परिशिष्ट

प्राकृतिक चिकित्सा की विधियां

१. एनिमा

१. **लेने का समय**—यदि सुबह दो बार शौच जाते हों तो दूसरी बार शौच जाने के बाद और एक बार जाते हों तो पहली बार जाने के बाद, एनिमा लेना चाहिए। जिन लोगों को निरंतर कई दिन एनिमा लेने की जरूरत हो वे रात को सोने के पहले ले सकते हैं।
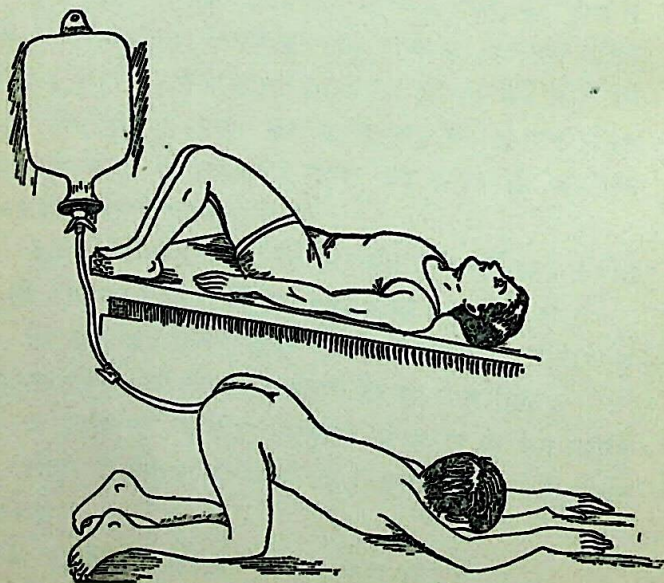
२. लेने का तरीका—एनिमा सीधे लेटकर अथवा कुहनी और घुटनों के बल पर होकर पुट्ठे को ऊपर करके भी लिया जा सकता है।

३. पानी पीना—एनिमा लेने के तुरंत पहले आधा सेर गरम अथवा ताजा पानी पीना लाभदायक है।

४. टांगने की ऊंचाई—एनिमा का बैग या बर्तन चार फुट से ज्यादा ऊंचाई पर नहीं रहना चाहिए। ज्यादा ऊंचाई पर रखने से पानी अंदर जोर से जाता है, इससे हाजत जल्दी हो जाती है।

५. पानी की मात्रा—आंतों में ५ सेर तक पानी लेने की जगह है, लेकिन किसी जानकार की देखरेख के बिना इतना पानी नहीं लेना चाहिए। आराम से जितना लिया जा सके उतना ही लेना चाहिए। आरंभ में लोग थोड़ा ले पाते हैं। अभ्यास हो जाने पर अढ़ाई सेर पानी आसानी से लिया जा सकता है। पहले दिनों में दो-अढ़ाई सेर लेना चाहिए, लेकिन अधिक दिनों तक लेने की जरूरत हो तो पानी की मात्रा कम कर लेनी चाहिए।

६. पानी की गरमी—पानी पहले कई दिनों तक इतना गरम लेना चाहिए कि हाथ को बरदाश्त हो सके। हाथ जितना गरम पानी बरदाश्त कर लेता है उतना आंतें भी कर लेती हैं। ११०° से ११५° डिग्री (फारेनहाइट) तक का गरम लिया जा सकता है। नाजुक लोगों को या ज्यादा दिनों तक लेने की जरूरत होने पर पानी कम गरम या ताजा लेना चाहिए। अथवा गरम लेने के बाद शौच से लौटकर पाव भर ठंडे पानी का एनिमा लेकर उस पानी को आंतों में पड़े रहने देना चाहिए।

७. पानी में क्या डालें?—अढ़ाई सेर पानी में, सुलभ हो तो, खट्टे नीबू का दो तोला रस डालना चाहिए। पानी और नीबू के रस को साफ कपड़े से छान लेना चाहिए। अढ़ाई तोला शहद भी अढ़ाई सेर पानी में मिलाया जा सकता है। जिनका कोठा कड़ा हो, वे अढ़ाई सेर पानी में एक तोला पिसा हुआ नमक मिला सकते हैं। छोटे बच्चों को उम्र के अनुसार एनिमा में पाव-डेढ़ पाव सादा पानी काफी होता है।

८. घुंडी खोलना—एनिमा लेने के पहले नली की घुंडी (नोजल)

को खोलकर दो तोला पानी निकाल देना चाहिए। इससे हवा निकल जाती है और मालूम हो जाता है कि नली में पानी आ रहा है या नहीं।

गुदा में डालने वाली नली को घी या किसी मीठे तेल से चुपड़ लेना चाहिए। एनिमा ले चुकने के वाद इस नली को साबुन और गरम पानी से धोकर रखना चाहिए।

९. **बीच में पाखाना**—लेते-लेते जोर की हाजत हो जाय तो पाखाने जा आना चाहिए और यह मालूम हो कि पूरी सफाई नहीं हुई है तो फिर आकर एनिमा लेना चाहिए।

१०. **रुकना**—एनिमा लेने के वाद तीन-चार मिनट तक रुकना और दायें-वायें करवट लेना अच्छा है। इससे मल अंदर पानी में घुल जाता है।

११. **पानी लेने में समय**—२॥ सेर पानी लेने में ८-१० मिनट से ज्यादा नही लगने चाहिए।

१२. **एनिमा के बाद शौच**—कई वार ऐसा होता है कि एक बार के शौच जाने में ही सारा पानी नहीं निकलता। थोड़ी देर के वाद हाजत हो तो फिर जाना चाहिए। वचे हुए मल सहित पानी निकल जायगा। अगर आंतों में पानी रह गया तो घंटे-दो घंटे में पेशाव द्वारा निकल जायगा। उसके लिए चिंतित होने की जरूरत नहीं है।

एनिमा का पानी निकालने के लिए गुदा पर ज्यादा जोर नहीं डालना चाहिए, न पाखाने से जल्दी उठकर भागना चाहिए। दस-बीस मिनट आराम से वैठे रहने से पानी मल को घुलाकर अपने आप निकलेगा।

१३. **दो बार एनिमा**—अगर एक वार एक एनिमा से मल साफ न हो या कोठे में मल ज्यादा होने की शंका हो तो एक के वाद दूसरा और तीसरा एनिमा भी लिया जा सकता है। पर यह चीज कभी-कभी ही ठीक हो सकती है। रोज दो-दो तीन-तीन वार एनिमा लेना ठीक नहीं। कुछ लोग रसाहार में सुवह-शाम दो समय एनिमा लेना पसंद करते हैं, लेकिन ऐसा किसी जानकार चिकित्सक की सलाह से ही करना चाहिए।

१४. **शौच-स्थान**—शौच का स्थान एनिमा लेने के स्थान से ज्यादा

दूर नहीं होना चाहिए। जितना पास हो उतना अच्छा है।

१५. गर्भावस्था में एनिमा—जिन स्त्रियों को गर्भ के समय उल्टी वगैरह के उपद्रव होते हैं वे अगर खान-पान, व्यायाम आदि ठीक रखने के साथ-साथ कुछ दिनों तक एनिमा लें तो उनकी बहुत-सी पीड़ाएं दूर हो जायंगी।

१६. नहाना—एनिमा से पेट साफ कर लेने के बाद तुरंत नहाने में कोई हानि नहीं है। बल्कि उससे स्फूर्ति आती है। नहाने का पानी गरम या ठंडा अभ्यास के अनुसार, लेना चाहिए।

१७. खाना—खाने के बाद फौरन एनिमा नहीं लेना चाहिए। खाली पेट या खाने के तीन-चार घंटे बाद लेना अच्छा है। लेकिन खाने के बाद अगर कभी तत्काल दर्द वगैरह के कारण पेट से मल निकालने की जरूरत हो तो एनिमा लेने में कोई हर्ज नहीं है। एनिमा लेकर फारिग होने के बाद आम तौर से भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं है।

१८. उपवास में एनिमा—बहुत जरूरी है। बिना एनिमा के उपवास करना हानिकारक ही है। एनिमा से उपवास आसान हो जाता है। उपवास काल में आंतों में खुराक का—ऊपर का बोझ न पड़ने के कारण भीतर पड़ा मल अपने-आप आगे नहीं सरकता और एनिमा न लिया जाय तो वह अंदर सड़ेगा और उसमें पैदा हुआ विष शरीर के खून में मिल जायगा।

२. मिट्टी की पट्टी

मिट्टी बहुत उपयोगी वस्तु है। शरीर के जिस हिस्से पर मिट्टी की पट्टी रखी जाती है उसके नीचे तथा आस-पास के भाग की भीतरी गरमी को वह खींच लेती है। इसीलिए मिट्टी की पट्टी की ठंडक धीरे-धीरे कम होती जाती है। लगभग पौन घंटे में और कभी-कभी आध घंटे में ही, ठंडक बिल्कुल चली जाती है, मिट्टी का पानी सूख जाता है। इस प्रकार गरमी के दूर होने से वहां पैदा हुई शिथिलता जाती रहती है और आंतों में गतिशीलता आ जाती है। यही कारण है कि मिट्टी से तत्काल फायदा

मालूम होता है। कब्ज दूर करने के उपाय में मिट्टी की पट्टी कुदरती उपचार का एक विशेष अंग बन गया है। चोट, सिर के भारीपन, पेट के दर्द, फोड़े तथा डंक आदि पर भी उसका सफलतापूर्वक प्रयोग होता है।

मिट्टी बहुत साफ होनी चाहिए, लेकिन ज्यादा चिकनी या रेतीली नहीं, न खादवाली। खूब मुलायम हो, कंकरीली नहीं। अगर कहीं मिट्टी सूखी न मिलती हो तो उसे धूप में सुखाकर कूटकर महीन करके रख छोड़ें। जमीन की ऊपरी सतह की मिट्टी प्रायः साफ नहीं मिलती, एक-डेढ़ फुट नीचे खोदकर अच्छी मिट्टी पाई जा सकती है।

साफ मिट्टी को ठंडे पानी से गूंधकर करीब आधा इंच मोटी पट्टी बनानी चाहिए। सामान्यतया एक बार इस्तेमाल की हुई मिट्टी को दूसरी बार काम में नहीं लाना चाहिए।

३. स्नान

कटि-स्नान

व्यक्ति के डीलडौल के हिसाब से छोटा या बड़ा टब लेनाचाहिए। उसमें पानी उतना भरना चाहिए कि बैठने पर जांघ का ऊपरी हिस्सा और पेड़ू पानी में रहे। पानी ६४ से ६८ डिग्री फारेनहाइट का होना चाहिए, अथवा कुएं-नल या नदी से जिस मौसम में जैसा ताजा पानी मिले। पानी के अंदर-अंदर पेड़ू को नाभि से एक मोटे, खुरदरे तौलिए से नीचे की ओर तथा दाहिने से बायें और बायें से दाहिने, बिना रुके तेजी से मलना चाहिए।

शरीर में ठीक-ठीक ठंडक आ जाने तक मलना जारी रखना चाहिए। शुरू में पांच-दस मिनट काफी होंगे। बाद को कुछ समय २०-२५ मिनट तक बढ़ाया जा सकता है। पर

वहुत कमजोरों तथा वच्चों के लिए तो कुछ ही मिनट वस होंगे। ध्यान रखें कि नभ से ऊपर का तथा जांघ से नीचे का हिस्सा ठंडा न किया जाय। उन हिस्सों में प्रायः रक्त की कमी रहती है, इसलिए उन्हें ऊनी कपड़े से ढंक देना चाहिए। कटि-स्नान के वाद शरीर को तुरत गरमाना चाहिए। खुली हवा में तेजी से टहलने जाकर या दूसरा कोई व्यायाम करके गरमी लानी चाहिए। नाजुक दशावाले या वहुत नाजुक रोगियों को गरमी लाने के लिए कंवल उढ़ाकर विस्तरों में लिटाया जा सकता है। यदि गरमी देर से आती हो तो पेड़ू पर एक ऊनी पट्टी काम में लानी चाहिए।

ऐसे कटि-स्नान दिन में एक से तीन वार तक लिये जा सकते हैं। कितनी देर तक लेना और पानी कितना ठंडा रखना यह रोगी की दशा देखकर तय करना चाहिए।

वहुतों को इसके वदले में मेहन-स्नान ठीक हो सकता है अथवा एक वक्त मेहन-स्नान और एक वक्त कटि-स्नान भी लिया जा सकता है।

मेहन-स्नान

यह स्त्री-रोगों के लिए विशेष रूप से आवश्यक है।

उपर्युक्त टब में एक छोटी चौकी रख दी जाती है। टब में पानी इतना डालना चाहिए कि चौकी का सिर्फ तख्ता ऊपर से सूखा रहे, वाकी हिस्सा पानी में आ जाय। रोगी को उस चौकी पर वैठकर और खद्दर के छोटे तौलिए को पानी में भिगोकर जननेंद्रिय को (योनि के ऊपरी हिस्से को) धीरे-धीरे धोना चाहिए। तौलिए में जहां तक संभव हो अधिक-से-अधिक पानी उठाकर धोना चाहिए। यह आवश्यक है कि जननेंद्रिय की वाहरी जिह्वा को धोना चाहिए, जननेंद्रिय के भीतरी हिस्से को नहीं। और ऊपर-नीचे किसी तरफ से रगड़ना नहीं चाहिए। इसके वाद रोगी या शुश्रूषक की कमर को धीरे-धीरे, ऊपर नीचे से तथा दायें-वाएं से गीले तौलिए से मल देना चाहिए। पुट्ठों को भी। इस स्नान में भी पैर का भाग तथा शरीर के ऊपर का हिस्सा सूखा रखना चाहिए। स्नान के वाद शरीर में गरमी

लानी चाहिए—उसी तरह जिस तरह कटि-स्नान में बतलाई गई है।

मासिक के दिनों में यह स्नान बंद रखना चाहिए। पर यदि रक्त बहुत अधिक आता हो यानि रक्त-प्रदर की तरह की शिकायत हो तो उन दिनों भी यह स्नान जारी रखा जा सकता है। लेकिन यह इस चिकित्सा के किसी जानकार की सलाह से ही करना चाहिए।

मासिक का काल तीन या चार दिन का मानना चाहिए। इससे ज्यादा दिन लगना अस्वाभाविक है और यह रोग की गिनती में है। वैसी दशा में चार दिन के बाद मेहन-स्नान लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

मेहन-स्नान के लिए पानी ५९ से ६० डिग्री तक का ठंडा लेना अच्छा होगा। पर इतना ठंडा न मिले तो रात को मिट्टी के घड़ों में रखकर ठंडा किया हुआ लेने से काम चल सकता है।

रोगी की उम्र और दशा के अनुसार यह स्नान दस मिनट से एक घंटे तक लिया जा सकता है। पर जाड़े में कमरे में आरामदेह गरमी होनी चाहिए।

पानी इस स्नान में जितना ठंडा रहेगा, लाभ उतना अधिक मिलेगा, लेकिन रोगी की बरदाश्त के बाहर ठंडा नहीं होना चाहिए।

मेहन-स्नान के लिए कोई भी टब काम में लाया जा सकता है। टब २५-३० सेर पानी आने लायक होना चाहिए और ऐसा कि उसमें चौकी रखकर उस पर आराम से बैठा जा सके और पानी चौकी के किनारे तक पहुंच जाय। कम पानी होने पर उसकी ठंडक जल्दी कम हो जाएगी—उसमें गरमी आ जायगी और स्नान का लाभ पूरा न मिलेगा। यदि बहता पानी मिले तो बहुत अच्छा है अथवा पानी को कुछ समय धूप में रखकर तब काम में लाना चाहिए। लेकिन दिन में धूप में रखने के बाद घड़ों में रखें और ठंडा हो जाने पर ही काम में लाएं।

मर्दों को भी मेहन-स्नान उपर्युक्त विधि से ही लेना चाहिए। उन्हें लिंगेंद्रिय के ढकने के चमड़े के अगले सिरे को धोना चाहिए। रोगी को चाहिए कि वह उस सिरे को बाएं हाथ के अंगूठे के बाद की दूसरी-तीसरी

अंगुली के बीच में दवाकर—ढकने को—त्वचा के अग्रभाग को आगे बढ़ा ले और उसे पानी में धीरे-धीरे धोए। आगे-बढ़ाने का मतलब यह है कि धोने में भीतरी हिस्से पर कोई रगड़—घर्षण न हो। इन हिदायतों को स्वयं या किसी जानकार द्वारा अच्छी तरह समझे विना यह स्नान लाभ के बदले हानिकर हो सकता है।

पूर्ण भाप-स्नान

यह रोगी को २॥ फुट चौड़ी और ६ फुट लंबी, सुतली से विना खाट पर लिटाकर, या वेत की बुनी कुर्सी पर बिठाकर दिया जा सकता है।

खाट पर रोगी को लिटा कर उसके नीचे तीन पतीलियां उवलते पानी की रख दें—-एक रोगी की पिंडली के नीचे, दूसरी पुट्ठों के नीचे, तीसरी कमर के नीचे। उसके बाद रोगी को कंवल से खाट सहित इस तरह ढक दें कि भाप वाहर न जा सके। रखते समय पतीलियां ढकी रहें, नहीं तो भाप निकल जायगी। जव रोगी पर कंवल डालें तव पतीलियां खोलें। अव रोगी को भाप लगनी शुरू हो जायगी। कंवल से ढकते समय रोगी का मुंह, सिर सव ढक दें। पर चार-पांच मिनट के वाद सिर और मुंह से कंवल सरकाकर गले पर कर दें। रोगी को खाट पर लिटाने के पहले आधा सेर अच्छा गरम पानी पिलाने से पसीना ज्यादा आयगा। अंगीठी या चूल्हे पर एक चौथी पतीली उललते पानी की और रखनी चाहिए। आठ-दस मिनट वाद उस पतीली को पुट्ठेवाली पतीली से बदल दें। जब इस पतीली का पानी फिर उवलने लगे तो उसे कमरवाली पतीली से बदल दें। पिंडलीवाली पतीली वदलने की प्रायः जरूरत नहीं होती।

२०-२५ मिनट में रोगी के शरीर से पसीना टपकने लगेगा। रोगी के सिर पर ठंडे पानी में भिगोकर निचोड़ा हुआ एक अंगोछा रख देना चाहिए और वीच-वीच में उसे भिगोते रहना चाहिए। पसीना गरमी में जल्दी आता है, जाड़े में समय अधिक लगता है। रोगी की प्रकृति की भिन्नता के कारण भी किसी को जल्दी और किसी को देर से आता है।

पसीना पहले पीठ पर लगने दें, फिर दायें-वायें करवट वदलकर लें तव पेट की तरफ।

छोटे वच्चे को भाप सिर्फ एक पतली कमर के नीचे रखकर दें।

अगर खाट के वजाय वेत की वुनी कुर्सी पर देना हो तो कुर्सी के नीचे सिर्फ एक पतीली रखने से काम चल जाता है। यदि रोगी को पसीना देर से आता हो तो उसके पैरों को उस समय गरम पानी में रखना चाहिए। रोगी, कुर्सी और पतीली को इस तरह ढकना चाहिए कि भाप वाहर न जाय।

हमेशा यह खयाल रखना चाहिए कि भाप इतनी तेज न हो कि रोगी को असह्य हो जाय। ज्यादा तेज होने से त्वचा जलने का डर रहता है। पसीना पंद्रह से वीस मिनट तक वहने देना चाहिए। शरीर के जिन भागों में दोष की अधिकता होती है उसमें पसीना देर से आता है और रोगी ऐसे स्थानों में अधिक गरमी लगाना चाहता है। उसकी इच्छा पूरी करनी चाहिए, इससे भाप-नहान का उद्देश्य पूरा होता है।

ज्यादा कमजोर तथा खतरनाक दशा के तथा नाड़ी-दौर्वल्य से पीड़ित रोगियों को भाप-नहान नहीं लेना चाहिए। इन्हें मेहन और कटि-स्नान के साथ धूप-नहान जोड़ लेने से वही लाभ मिलेगा।

जिन्हें स्वभावतः आसानी से पसीना आता हो उन्हें भाप-नहान लेने की आवश्यकता नहीं होती। वहुत कमजोरों को भी भाप-नहान से वचना चाहिए।

भाप-नहान के वाद ठंडे पानी से पंद्रह-वीस मिनट का कटि-स्नान लेना अत्यावश्यक है इस कटि-स्नान के पहले या अंत में छाती, हाथ, पैर, सिर और गर्दन को भी फुर्ती से धो डालना चाहिए, जिसमें उनकी सफाई के साथ-साथ शरीर में ठंडक आ जाय। पसीने के वाद ठंडे पानी से नहाने में डरने की जरूरत नहीं।

इस कटि-स्नान के वाद शरीर में कसरत से इतनी गर्मी लानी चाहिए कि जिसमें हल्का पसीना चमक आए। मजवूत रोगी खुली हवा में, खास-

क़र धूप में कुछ कसरत करके गर्मी ला सकते हैं। ज्यादा कमजोर रोगी कमरे की खिड़कियां खुली रखकर रजाई ओढ़कर बिस्तर में लेटे।

रोगी को भाप देने के लिए एक सहायक की आवश्यकता होती है। भाप लेना वहुत आसान होने पर किसी जानकार से समझ लेना चाहिए। विना समझे देने से हानि उठानी पड़ती है।

धूप-नहान

यह धूप में तेजी होने पर ही—१० से ३ बजे तक—लिया जा सकता है। चटाई, कंवल या तख्त पर, लंगोटी लगाकर, पैर से गले तक एक बहुत पतला कपड़ा ओढ़कर—जिसमें तेज हवा न लगे—लेट जायं। स्त्रियां सिर्फ एक पतली साड़ी पहनकर लेटें। सिर और चेहरे को सूर्य-किरणों से बचाने के लिए केले का पत्ता या नीम जैसी छोटी पत्तियों का झुप्पा अथवा गीला कपड़ा रख सकते हैं। इसी प्रकार पेड़ू पर भी कपड़ा न रखकर पत्ता या गीला कपड़ा रखना चाहिए।

धूप-नहान आधा घंटे से डेढ़ घंटे तक लिया जा सकता है। जिन्हें पसीना जल्दी न आता हो वे और भी देर तक—थकान न आने का खयाल रखकर—ले सकते हैं। अधिक गरम दिनों में अधिक देर तक न लें।

जिन्हें पहले-पहल धूप-नहान लेने पर सिर-दर्द या अवसाद जान पड़े उन्हें समय धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। यह उन्हीं के लिए है जिन्हें शीघ्र पसीना न आता हो या बड़ी मुश्किल से आता हो।

धूप-नहान के बाद २०-२५ मिनट का ठंडा कटि-स्नान या मेहन-स्नान लेना चाहिए। जिन मरीजों को इन स्नानों के बाद शीघ्र गरमी न आती हो उन्हें फिर थोड़ी देर धूप में बैठना या टहलाना चाहिए। नाजुक मरीजों को आरंभ में धूप-नहान कुछ कड़ा पड़ सकता है।

खाना खा ये हुए दो अढ़ाई घंटे होने पर लेना चाहिए। इसके लेने के आध घंटे बादखाना खाया जा सकता है।

गांठों, बाहरी या भीतरी घावों तथा दर्दवाले स्थानों पर धूप-नहान से बहुत लाभ होता है। उन-उन स्थानों कों केले के बड़े पत्ते या छोटी पत्तियो के झुप्पे से ढककर धूप देनी चाहिए।
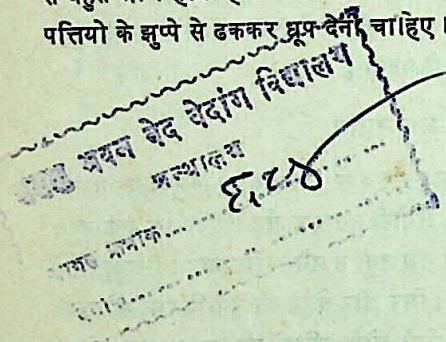
प्राकृतिक चिकित्सा-सम्बन्धी अन्य पुस्तकें

१. कब्ज : कारण और निवारण
२. मैं तन्दुरुस्त हूं या बीमार ?
३. सरल व्यायाम
४. तन्दुरुस्ती हजार नियामत
५. बीमारी कैसे दूर करे ?
६. प्राकृतिक चिकित्सा के चमत्कार
७. सरल योगासन
८. नवीन चिकित्सा
९. पहला सुख निरोगी काया
१०. व्यायाम करो, स्वस्थ रहो
११. तन्दुरुस्त रहने के उपाय